भक्ति

शीलधुरंधर सेठ सुदर्शन

(1)

मुनिराज उस निर्जन वन में एक शिला पर योगमुद्रा में स्थित हैं। आगम के प्रकाश में अंतःचक्षु के द्वारा वे अपनी आत्मा को देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी भयंकर शीत ऋतु में वे नग्न दिगम्बर मुनि धैर्यरूपी कंबल ओढ़ रहे हैं और आत्मा को अपने शरीर से भिन्न समझकर मन को एकाग्र करने के पुरुषार्थ में तन्मय हैं। इधर सुभग ग्वाला निकलता है, खुले बदन बैठे हुए महासाधु को देखकर मन में सोचने लगता है–

'अहो! ये महात्मा कैसे हैं? इनके पास न लंगोटी है न चादर, ऐसी भयंकर ठंडी में जहाँ घर में बैठकर कंबल में मुँह छिपाकर भी दाँत कड़-कड़ बजते हैं, बाहर निकलते ही हाथ-पैर कंपते हैं। ओह! सूर्य अस्त हो चुका है, रात्रि पिशाचनी

अपने अंधेरे से सबको ग्रसित करने वाली है। अभी कुछ ही क्षण बाद हाथ पसारा भी नहीं दीखेगा। ठंडी-ठंडी हवा चल रही है, अभी तुषार कण गिरने लगेंगे और देखते ही देखते बरसात के समान वृक्षों के पत्तों से पानी टपकने लगेगा। सुबह होने तक कुहरा छाया रहेगा। बिना वस्त्र के ये बेचारे महात्मा आज की रात कैसे पूरी करेंगे? ऐसी ठंडी झेलकर कैसे जीवित रह सकेंगे?

नाना तरह के विचारों के झूले में झूलता हुआ वह ग्वाला कुछ क्षण तक वहाँ स्तब्ध खड़ा रहता है पुनः देखता है मेरी गाय-भैंसें तो बहुत दूर निकल गई हैं। जल्दी-जल्दी पैर उठाकर शहर की ओर बढ़ जाता है। सेठजी की गौशाला में गाय-भैंसों को पहुँचाकर घर पहुँचकर कुछ लकड़ियाँ और आग लेकर वापस गाँव के बाहर उन्हीं मुनिराज के निकट आ जाता है। भक्ति से प्रणाम करता है पुनः मुनिराज के पास में ही बैठकर लकड़ियाँ जला-जलाकर आप स्वयं तापता रहता है। इस प्रकार से वह रात भर जागता हुआ मुनि के पास अग्नि जलाता हुआ, उनकी शीत बाधा को दूर करने में लगा हुआ है। उसे स्वयं को ठंड लग रही है या नहीं, इसका उसे भान नहीं है। बस! उसे एक ही धुन है कि किसी भी तरह से मुनिराज को ठंड न लग जाय। लगभग चौदह घंटे की इतनी बड़ी ठंड की रात पूरी हो जाती है, चारों तरफ कुहरा छाया होने से आकाश में बादल छाये हुए के समान दिख रहा है। पूर्व दिशा में सूर्य उदित हो चुका है किंतु उस समय ऐसा

प्रतीत हो रहा है मानों सूर्य देवता को भी ठंड लग रही है और इसीलिए वे कुहरा-रूपी कंबल में अपना मुँह ढके हैं। धीरे-धीरे पुरुषार्थ करके सूर्य देवता अपनी हजार किरणों से कुहरे को तितर-बितर कर देते हैं और अपना प्रकाश व प्रताप एक साथ भूमंडल पर फैला देते हैं। मुनिराज अपना ध्यान समाप्त कर उस निकट भव्य ग्वाले की ओर देखते हैं। उसे उपदेश देते हैं।

'भद्र! मैं तुम्हें एक मंत्र देता हूँ तुम अपने हर एक कार्यों में प्रथम ही इस मंत्र को बोला करो-'णमो अरिहंताणं।'

ग्वाला हाथ जोड़कर गुरु का प्रसाद समझते हुए बड़ी श्रद्धा से उस मंत्र को सुनता है पुनः उच्चारण करता है।

'णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं।'

मुनिराज कहते हैं—

'भव्य! यह मंत्र तुम्हें संसार समुद्र से पार कर देगा, इसलिए तुम इसे कभी नहीं छोड़ना, हमेशा ही इसका उच्चारण करते रहना।'

वह ग्वाला भी प्रसन्न होकर बार-बार गुरु चरणों में प्रणाम करता है और मंत्र का उच्चारण करता जाता है। मुनिराज उसे आशीर्वाद देकर स्वयं भी 'णमो अरिहंताणं' मंत्र का उच्चारण करते हुए आकाशमार्ग से विहार कर जाते हैं। वह ग्वाला एक टक देखता ही रह जाता है, आश्चर्यचकित होने लगता है।

'अहो! यह मंत्र कितना चमत्कारी है, देखो तो सही, महात्माजी इसी मंत्र को बोलते हुए आकाश में अधर उड़ते हुए चले गये।'

इस प्रसंग से उसे इस मंत्र पर और भी अधिक श्रद्धा हो जाती है और वह प्रातःकाल इसी मंत्र को जपता हुआ अपने घर आ जाता है। स्नान, भोजन आदि प्रत्येक काम करते हुए वह ग्वाला इस मंत्र का उच्चारण कर रहा है। सेठ वृषभदास देखते हैं कि घर का प्रत्येक कार्य करते समय यह मेरा नौकर आज 'णमो अरिहंताणं' इस मंत्र को बोल रहा है वह प्रसन्न होकर पूछते हैं—

'सुभग! तुझेयह मंत्र किसने दिया है?'

ग्वाला कहता है—

'सेठजी! मैंने कल रात में जंगल में एक महात्मा की सेवा की थी। वे बिल्कुल नंगे बदन बैठे हुए थे। उनके पास मैंने अग्नि जला-जलाकर उनकी ठंड दूर की थी। तब वे प्रसन्न होकर हमें यह प्रसाद दे गये हैं और उन्होंने कहा है कि 'तू इसे घर के हर एक काम करते समय भी बोलते रहना छोड़ना नहीं' इसीलिए आज मैं सभी काम करते समय इस मंत्र को बोल रहा हूँ।'

सेठ जी कहते हैं—

'बहुत अच्छा, सुभग! तू बड़ा भाग्यशाली है जो कि तुझे यह गुरु प्रसाद मिला है। सचमुच में इस मंत्र से हर एक जीव संसार समुद्र पार कर सकता है। अच्छा देख, आज तू उस सामने वाले मकान में आ जा, वहीं रहना, अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी का मोह छोड़ दे।'

ग्वाला मन ही मन सोचने लगता है—

'अरे! आज सेठजी मेरे ऊपर इतने प्रसन्न हो रहे हैं.....मुझे

अपना एक पक्का मकान रहने के लिए दे रहे हैं। अहो! इस मंत्र का फल तो मुझे आज ही मिल गया। यह मंत्र कितना बढ़िया है।'

सेठ वृषभदास सेठानी जिनमती से कहते हैं—

'देखा, यह ग्वाला प्रत्येक कार्य करते समय महामंत्र के प्रथम पद का उच्चारण कर रहा है। यह कोई होनहार जीव दिखता है।.....अब तुम इसे प्रतिदिन अच्छा-अच्छा भोजन देते रहना।'

सेठानी कहती है—

'सच में, आज मैं सुबह से देख रहा हूँ यह नौकर बड़ी भक्ति से मंत्र बोल रहा है। इसका भविष्य बहुत ही उज्जवल दिख रहा है।'

सेठजी भोजन आदि से निवृत्त हो चले जाते हैं। ग्वाला भी खुशी-खुशी सेठ जी के द्वारा बताये हुए मकान में सपरिवार आकर रहने लगता है। खूब रुचि से सेठजी के गाय-भैंसों की संभाल करता हुआ अपना समय व्यतीत कर रहा है।

एक दिन जंगल में गाय-भैंसों को चरा रहा था कि अकस्मात् कुछ भैंसें नदी के उस पार निकल जाती है। उन्हें लाने के लिए वह नदी में कूद जाता है। कूदते समय भी 'णमो अरिहंताणं' इस मंत्र का उच्चारण करता रहता है। अकस्मात् नदी में कूदते ही उसके पेट में एक पैनी लकड़ी घुस जाती है और उसके प्राण निकल जाते हैं। मरते समय महामंत्र का उच्चारण करते-करते वह शांति से इस नश्वर काया को छोड़कर परलोक चला जाता हैं। इधर समय पर गाय-भैंसें

सेठजी के घर वापस आ जाती हैं। ग्वाले को न देखकर सेठजी उसकी खोज कराते है। वह मर गया सुनकर उसकी पत्नी आदि रोना-धोना करने लगती हैं। सेठ वृषभदास सबको सान्त्वना देते हुए उसके गुणों का विचार करते हुए घर आ जाते हैं।

(2)

सेठानी जिनमती उसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में स्वप्न में सुदर्शन मेरु, कल्पवृक्ष, देव भवन, समुद्र और अग्नि इन पाँच उत्तम-उत्तम स्वप्नों को देखती है। प्रातःकाल उठकर पति से कहती हैं। सेठ वृषभदास भी स्वप्नों को सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं। दोनों दंपती नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर जिनमंदिर पहुँचकर जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं। अनंतर सुगुप्त मुनिराज की वंदना करके उनसे प्रार्थना करते हैं—

''भगवन्! आज रात्रि के पिछले प्रहर में सेठानी जिनमती ने कुछ स्वप्न देखे हैं वे आपके श्री मुख से उनका फल सुनना चाहती हैं सो कृपाकर उसका फल बताकर हमें अनुग्रहीत कीजिए।'

उसी समय सेठानी हाथ जोड़कर मुनिराज के समक्ष पाँचों स्वप्न सुना देती हैं। मुनिराज कहते हैं—

'हे जिनमति! इन स्वप्नों का फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में कोई पुण्यशाली जीव आ गया है। सुदर्शन मेरु के देखने से वह धीर-गंभीर होगा। कल्पवृक्ष के देखने से वह संपत्तिशाली होकर दानी होगा। देवभवन के देखने से वह

देवों द्वारा वंदनीय होगा। समुद्र के देखने से वह गुणरूप रत्नों की खान होगा और अग्नि के देखने से वह इसी भव से कर्मरूपी ईंधन को जलाकर मुक्ति रूपी स्त्री का वरण करेगा। ऐसा महाभाग्यशाली चरमरशरीरी पुत्र रत्न तुम्हें प्राप्त होगा।'

इतना सुनते ही वृषभदास और जिनमती का मुख कमल प्रफुल्लित हो जाता है। उनके हर्ष का पारावार नहीं रहता है। पुनः पुनः गुरु को नमस्कार कर वे दंपती घर आ जाते हैं। और उसी दिन से घर में मंगलाचार शुरु हो जाते हैं। नव महीने व्यतीत होने पर पौष शुक्ला चतुर्थी के दिन शुभ नक्षत्र में जिनमती पुत्ररत्न को जन्म देती है। वृषभदास सेठ अपने वैभव के अनुसार पुत्र जन्म का महोत्सव मनाते हैं। याचकों को खुले हाथ से दान देते हैं और गरीबों को मुँह मांगा धन देकर उनकी कई पीढ़ियों तक की गरीबी समाप्त कर देते हैं। स्वप्न में सेठानी ने सुदर्शन मेरु पर्वत देखा था। इसीलिए वृषभदास सेठ उस पुत्र का नाम 'सुदर्शन कुमार' रख देते हैं। राजा के पुरोहित को भी पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। वह पुरोहित अपने पुत्र का नाम 'कपिल कुमार' रखता है। यह 'सुदर्शन' उस 'कपिल' के साथ क्रीड़ा करता हुआ अपने गुणों के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

इसी चंपापुर नगर में एक सागरदत्त श्रावक रहते हैं। उनकी पत्नी का नाम सागरसेना है। इन दंपती के मनोरमा नाम की एक पुत्री है जो नाम के अनुरूप ही सौंदर्य की खान होने से सभी का मन बरबस ही अपनी ओर खींच लेती है।

सागरदत्त सेठ कन्या मनोरमा को सर्वगुणों के साथ-साथ यौवन से भी संपन्न देखकर सुदर्शन कुमार के लिए देना सोचकर उनके घर पहुँचते हैं और कहते हैं—

"मित्र! मेरी कन्या मनोरमा रूप, वय और गुणों से सुदर्शन के योग्य है। मालूम होता है कि विधाता ने बड़े प्रयत्न से ही इस जोड़े का निर्माण किया है।"

वृषभदेव कुछ क्षण सोचकर कहते हैं—

"हाँ मित्र! जोड़ी तो सर्वथा उपयुक्त ही है। आपकी कन्या मेरे पुत्र के योग्य तो है इसमें संशय नहीं है फिर भी मैं सेठानी जिनमती से राय लेकर ही कुछ निणर्य कर सकता हूँ।"

सेठजी अंदर जाकर सेठानी से परामर्श करके वापस आते हैं और प्रसन्न मुद्रा में कहते हैं—

"आपने बात अनुकूल ही रखी है अतः हमें स्वीकार करना ही होगा।"

सेठ सागरदत्त भी प्रसन्न होकर कहते हैं—

"बंधुवर! पुनः "शुभस्य शीघ्रं" के अनुसार विवाह का मुहूर्त निकलवाइये।"

वृषभदास उसी समय नौकर को भेजकर श्रीधर ज्योतिषी को बुलवा लेते हैं। ज्योतिषी जी आकर बैठते हैं। सेठजी कहते हैं—

"पंडित जी! सुदर्शन कुमार के विवाह का मुहूर्त निकालना है।"

पंडित जी प्रसन्न होकर पंचांग खोलकर कुछ क्षण सोचकर कहते हैं—

"सेठजी! आपके सुपुत्र के विवाह का मुहूर्त वैशाख शुक्ला पंचमी सर्वश्रेष्ठ है।"

सेठ सागरदत्त हर्ष से रोमांचित होकर वृषभदास का अभिवादन करते हैं पुनः अपने घर आकर सागरसेना भार्या को शुभ समाचार सुना देते हैं। उचित मुहूर्त में दोनों का विवाह हो जाता है। नवदंपती गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देवपूजा गुरु भक्ति आदि धर्माराधना करते हुए सुख से अपना काल यापन कर रहे हैं। गृहस्थाश्रम के फलस्वरूप मनोरमा एक पुत्ररत्न को जन्म देती है जिसका नाम सुकांत रखते हैं। यह पुण्यवान् बालक घर के आँगन में खेलता हुआ सेठ वृषभदास और सेठानी जिनमति के प्रमोद को द्विगुणित करता रहता है।

एक दिन समाधिगुप्त नामक महर्षि अपने विशाल संघ के साथ आकर चंपापुर के बाहर उद्यान में ठहर जाते हैं। माली से समाचार ज्ञात कर राजा धात्रीवाहन, सेठ वृषभदास आदि सपरिवार मुनियों के दर्शन हेतु उद्यान पहुँचते हैं। गुरुओं की वंदना, पूजा, स्तुति करके उपदेश सुनते हैं। तत्पश्चात् वृषभदास गृहवास से विरक्त होकर अपने पुत्र सुदर्शन कुमार को राजा के लिए समर्पित कर आप जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते हैं। उसी समय माता जिनमती भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के पास में रहने लगती है। इधर सुदर्शन अपने सद्व्यवहार से चंपापुर में अपनी कीर्ति पताका फहराते हुए सुखपूर्वक धर्माराधना कर रहे हैं।

सुदर्शन के मित्र कपिल ब्राह्मण की पत्नी कपिला सुदर्शन के अनुपम सौंदर्य को देखकर काम से विह्वल हो जाती है। सुदर्शन से मिलने का उपाय सोचने लगती है। जिसके मन में जो भावना होती है उसी के अनुसार उसे समय मिल ही जाता है। एक दिन कपिल कार्यवश कहीं बाहर चला जाता है तब कपिला अपनी सखी को समझा-बुझाकर सुदर्शन को बुलाने हेतु भेज देती है। वह कुशल बुद्धि सखी सुदर्शन के पास पहुँचकर कहती है—

'बंधु! आपके मित्र कपिल अत्याधिक अस्वस्थ हो रहे हैं। आप शीघ्र ही चलकर उनके दुःख प्रसंग में उनका उपचार कीजिए।'

सुदर्शन अपने घर से चलकर मित्र के घर पहुँचते हैं। अंदर कमरे में प्रवेश करते हैं। सखी बाहर ही रह जाती है। कुमार सुदर्शन मित्र के पलंग के पास पहुँचते हैं। एक क्षण कुछ सोचते हैं पुनः मित्र को अधिक अस्वस्थ समझकर पलंग पर बैठ जाते हैं और मित्र के मुख की चादर हटाकर कुशल पूछना चाहते हैं। उसी समय षड्यंत्र को करने वाली कपिला सुदर्शन का हाथ पकड़ कर अपनी छाती पर रख लेती है और कहती है—

'हे सुभग! अपने वियोग से संतप्त हुए मेरे हृदय को अब संतुष्ट करो।' सुदर्शन एकदम चौंक पड़ते हैं और सहसा अपना हाथ छुड़ा लेते हैं। पुनः एक क्षण मन में कुछ सोचते हैं कि इस समय युक्ति से कार्य करना अच्छा होगा। ऐसा

सोचकर कहते हैं–

'भद्रे! मैं केवल बाहर से ही सुंदर दिखता हूँ मैं पुरुषत्व से शून्य हूँ, नपुंसक हूँ। अतएव तुम्हारे साथ रमण करने के योग्य ही नहीं हूँ।

यह सुनकर कपिला लज्जित हो जाती है और मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए सोचती है–

'अहो! व्यर्थ ही मैंने इसे अपनी दुर्वासना की भावना व्यक्त कर दी। यदि यह कदाचित् अपने मित्र कपिल से कह देगा तो क्या होगा'' मुझे पहले इसके नपुंसक होने का पता लगा लेना चाहिए था.....

सुदर्शन कुमार पुनः वहाँ अधिक देर ठहरना उचित न समझकर अपने घर वापस आ जाते हैं। कुलटा स्त्रियों की दुर्भावना और षड्यंत्र का विचार करते हुए संसार की स्थिति के विचार में निमग्न हो जाते हैं। और मन में संवेग भाव को वृद्धिंगत करते हुए पुनः अपने सुख-वैभव में निमग्न हो जाते हैं।

(3)

ऋतुओं का राजा बसंत अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करता हुआ चंपापुर में उद्यान में अपनी मुधरिमा बिखेर रहा है। राजा धात्रीवाहन अपने इष्ट मित्र और परिवार के साथ वनक्रीड़ा के लिए आ रहे हैं। रानी अभयमती भी अपने अंतःपुर के साथ चली आ रही हैं। उनके रथ में उनके पास ही उनकी प्यारी सखी कपिला बैठी हुई उनका मनोरंजन करा रही है। चारों तरफ की नगर की शोभा देखते हुए रानी का

मन मयूर नाच रहा है। धीरे-धीरे शहर के बाहर का दृश्य दिखने लगता है। तब प्राकृतिक छटा को देखते हुए रानी पुलकित हो उठती है। इसी बीच रथ में बैठी हुई मनोरमा अपने सुकांत पुत्र को गोद में खिलाते हुए उसे दिखती है। रानी की दृष्टि उस मनोरमा के मनोरम चेहरे पर टिक जाती है। उसके पुत्र का कांतिमान शरीर उसके नेत्रों को लुभावना हो जाता है। सखी से पूछने लगती है—

'प्रिय सखी! यह पुत्रवाली सुंदरी किसकी वल्लभा है'?

कपिला पहचानती है और आश्चर्य चकित हो जाती है। एक क्षण मौन का अवलम्बन ले लेती है। तब पुनः रानी उसकी ओर देखकर पूछती है—

'बता तो सही कपिला! यह किसकी कुलवधू है'?

तब कपिला कहती है—

'महारानी! आपके नगर सेठ वृषभदास के सुपुत्र सुदर्शन कुमार की यह पत्नी है.....अहो! इसकी गोद में किलकारियाँ भरता हुआ बालक कितना सुंदर है?'

अभयमती रानी कहती है—

'यह धन्य है जो ऐसे उत्तम पुत्र की माँ बनने का सौभाग्य इसे मिला है।'

कपिला संदेह भरे वचनों में कहती है—

'परन्तु जब सुदर्शन नपुंसक है तब भला उसकी पत्नी के यह पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ?'

रानी आश्चर्य चकित हो पूछती है—

'ऐं! क्या कहा? क्या सुदर्शन नपुंसक है?'

कपिला कहती है—

'हाँ महारानी! वह नपुंसक है। उसमें पुरुषत्व नहीं है।'

'यह तूने कैसे जाना? रानी पूछती है 'अरे!! भला इतना सुंदर और भाग्यशाली पुरुष कभी नपुंसक हो सकता है? तुझे किसने ऐसा कहा है? बता तो सही!'

कपिला एक क्षण चुप रहती है पुनः अपना पूर्व का रहस्य बता देती है—

'रानी! एक बार मैं इस सुदर्शन पर आसक्त हो गई। जैसे तैसे उपायों से इसे अपने घर बुलाया और उसका हाथ पकड़ लिया। इससे प्रणय की भीख माँगी तब इसने दुखी हो स्वयं यह बताया था कि मैं नपुंसक हूँ मैं स्त्री के साथ भोग करने के योग्य नहीं हूँ।'

सुनते ही रानी अवाक् रह जाती है पुनः सोचकर कहती है—

'कपिले! उसने तुझे धोखा दिया है ऐसा होना कथापि संभव नहीं है। भला जो पुरुष स्वयं नपुंसक हो और उसकी पत्नी की गोद में बालक खेले वह सहन कर सकता है? और कुलीन घरानों में ऐसी दुर्घटना खप सकती है क्या? सर्वथा असंभव है। कपिला खेदखिन्न होते हुए रानी के चेहरे की तरफ एक टक देखती है। रानी के मनोभावों की अनुमान लगाते हुए तीखे स्वर में व्यंग्य करती है।

'मैं मूर्ख ब्राह्मणी तो ठगाई गई, अब आप तो सर्वश्रेष्ठ हैं

और सर्वगुणसंपन्न हैं। आपके सौभाग्य को मैं तभी सफल समझूँगी कि जब आप उसके साथ भोग-भोग लें अन्यथा..... आपका यह सौंदर्य और आपकी यह बुद्धि सब विफल ही समझी जायेगी।'

इतना सुनकर रानी अभयमती सुदर्शन के रूप में आसक्त हो जाती है और मद से विह्वल होती हुई कहती है–

'अच्छा देख, मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि सुदर्शन के साथ कामसुख का अनुभव करके रहूँगी और यदि.....यह सौभाग्य मुझे नहीं मिल सका तो मैं अपने प्राणों को समाप्त कर दूँगी।'

कपिला के मन में एक क्षण के लिए विवेक उत्पन्न होता है और वह सोचने लगती है—

'ओह! यह महारानी अभयमती राजा धात्रीवाहन को कितनी प्यारी है। राजा का सौंदर्य क्या सुदर्शन से कुछ कम है? राजा का वैभव, राजा के गुण, राजा का ऐश्वर्य क्या सुदर्शन जैसे सेठ पुत्र के पास है? फिर भी यह रानी ऐसा क्यों सोच रही है? इसके मन में यह दुर्वासना कैसे आ गई?..... सचमुच में यह अब अपने पिता और पति दोनों के कुलों को कलंकित करने के लिए सन्नद्ध दिख रही है।'

पुनः कपिला सोचती है—

'जो भी हो हमें क्या करना?.....इस दुष्ट सुदर्शन ने मुझे तो धोखा दिया ही है। अब देखती हूँ यह रानी के प्रेमपाश से बचकर कहाँ जाता है। जब मैं इसे रानी के मोहजाल में फँसा हुआ देखूँगी तक पूछूँगी–तू तो नपुंसक था अब पुरुष कैसे बन गया?'

इधर रानी मन में अनेक कल्पनाओं का जाल बुनते हुए उद्यान में पहुँचती हैं। जलक्रीड़ा का आनंद लेती हैं पुनः महल में आकर सुदर्शन की स्मृति में खो जाती है। उन्मनस्क हुई अपने शयनागार में जाकर पलंग पर पड़ जाती हैं। धाय आकर रानी की दुरवस्था देखकर पूछती है—

'हे पुत्री! आज तुझे क्या हो गया है? तू अकस्मात् इतनी उदास क्यों हो रही है? मुझे इसका कारण तो बता?'

रानी जैसे-तैसे उठकर बैठती है और कहना शुरू करती है—

'माँ! मुझे इस समय ऐसी चिंता ने आ घेरा है कि मैं किसी से कुछ कह नहीं सकती हूँ।'

'बेटी! तू मुझसे संकोच क्यों करती है? देख तेरे मन की बात मेरे सिवाय क्या किसी अन्य से कही जा सकती है? तू निःसंकोच हो मुझे अपने मन की व्यथा कह मैं उसका शीघ्र ही प्रतिकार करूँगी।'

धाय के आश्वासन से आश्वस्त हो रानी कहती है–

'मातः! आज मैं बसंत महोत्सव के अवसर पर जब उद्यान की तरफ जा ही रही थी तब .....एक महासौंदर्य की खान ऐसा पुरुष मेरी दृष्टि में पड़ा। उसका नाम है सुदर्शन, वह अपनी राजसभा का एक भूषण है। तू उसे जानती है क्या?'

पंडिता धाय एकदम अवाक् रह जाती है पश्चात् साहस बटोर कर कहती है—

'हाँ बेटी! मैं उसे अच्छी तरह से जानती हूँ। परन्तु...बेटी अपने राजा धात्रीवाहन का तो वह आज्ञाकारी किंकर है। अरी पगली! क्या अपने राजा उस तुच्छ पुरुष के गुण व रूप में किसी भी प्रकार से कम हैं? अरे! तेरे मन में यह पापवासना कैसे आ गई?'

रानी खिन्न हो उठती है और बोलती है—

'पंडिते! यह समय मेरे प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने का है न कि शिक्षा देने का। मुझे तेरा उपदेश नहीं चाहिए और न ही अपने राजा के गुणों से किसी की तुलना ही चाहिए। बस, मैं तो अब या तो सुदर्शन के साथ कामसुख का अनुभव करूँगी या तो चिता में शरीर का शोषण करूँगी।'

पंडिता कहती है—

'महारानी! यदि राजा को इस पाप का पता चल जायेगा तो क्या होगा?'

रानी उत्तर देती है—

'पता कैसे चल जायेगा? तुझे सर्वथा यह कार्य गुप्तरीति से करना होगा।'

'बेटी! तुझे मालूम नहीं है क्या? तेल की बिंदु जल में डालने पर वह ऊपर ही आती है वैसे ही कितनी ही छिपाकर पाप क्यों न किया जाए वह ऊपर चढ़कर पुकारता है।'

'पंडिते! जो भी होना होगा सो तो होकर ही रहेगा अतः अब तू ज्यादा सोच विचार न करो, बस! मेरे जीवित रहने का उपाय उस सुदर्शन को लाना ही है ऐसा समझकर शीघ्र

ही उसे यहाँ लाने का प्रयास कर।

धाय कुछ सोचती है पुनः कहती है—

'रानी! मैंने सुना हुआ है कि उसके एकपत्नी व्रत है अतः वह यहाँ इस पाप कार्य के लिये कैसे लाया जा सकता है? दूसरी बात यह है कि तेरे राजभवन को वेष्टित कर सात परकोटे स्थित हैं अतः उसका यहाँ लाना दुःसाध्य ही है।'

रानी दीर्घ निःश्वास खींचकर कहती है—

'यदि तू मुझे जीवित देखना चाहती है तो तू पंडिता है। तेरे लिए सब कुछ उपाय साध्य हो जावेगा अतः तुझे कुछ न कुछ उपाया करना ही पड़ेगा।'

पंडिता कुछ देर तक सोच-विचार करती है पुनः रानी से कहती है—

'अच्छा बेटी! तू उठ, और भोजन पान कर, मैं तेरी मनोकामना सिद्ध करने के लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ।

'इतना कहकर धाय वहाँ से चली जाती है।

(4)

पंडिता धाय कुंभकार के घर पहुँचती है और कुंभकार को पुरुष के बराबर प्रमाण सुंदर सात मूर्तियां बनाने का आदेश देती है और सुदर्शन की सारी दैनिकचर्या का पता लगा लेती है। (उसे पता चलता है कि सुदर्शन प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके रात्रि में निर्जन वन में जाकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर ध्यान करता है। धाय अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझकर मन ही मन प्रसन्न हो जाती है।)

पुनः प्रतिपदा की रात्रि को मिट्टी की पुरुषाकार एक मूर्ति लेकर अपने कंधे पर रखकर अभयमती के भवन की तरफ चल देती है। पहले परकोटे का द्वारपाल ही उसे अंदर जाने से रोक देता है तब पंडिता पूछती है।

'क्या रात्रि में मेरे लिए भी रानी के पास जाना मना है?'

द्वारपाल कहता है—

'हाँ, इतनी रात में तुम भी वहाँ नहीं जा सकती हो।'

इतना कहने पर भी धाय नहीं मानती है और हठपूर्वक अंदर प्रवेश करने लगती है। तब द्वारपाल बलपूर्वक उसे रोकने का प्रयत्न करता है कि वह स्वयं ही झुँझला कर कंधे का पुतला जमीन पर गिरा देती है और स्वयं धरती पर पड़कर बकने लगती है।

'अरे मूर्ख! तूने यह क्या कर डाला? हाय-हाय बड़ा अनर्थ हो गया। अब देख प्रातः तेरी क्या दशा होती है?'

द्वारपाल घबड़ाकर गिड़गिड़ाने लगता है।

"अहो!! क्या हुआ? यह मूर्ति फूट गई अब क्या होगा? अम्माजी! अब तुम मेरी रक्षा करो.....।"

धाय कहती है—

"अरे मूर्ख! आज रानी का व्रत है वह इस कामदेव की मूर्ति की पूजा करके रात्रि में जागरण करने वाली थी। तूने इसे फोड़ डाला, अब प्रातः काल तेरे कुटुम्ब सहित ही तेरा नाश समझ।'

यह सुनकर द्वारपाल भयभीत होता हुआ धाय के पैरों में गिर पड़ता है और कहता है—

'अम्मा जी! मुझे क्षमा कर दो। आज से मैं ऐसी गलती नहीं करूँगा! अब तुम्हें कभी भी महल में जाने से नहीं रोकूँगा।'

इतना सब कुछ षड्यंत्र करके वह धाय अपने घर चली जाती है। दूसरे दिन पुनः दूसरी मूर्ति कंधे पर रखकर आती है तब पहला द्वारपाल कुछ नहीं बोलता हैं किन्तु दूसरे परकोटे पर पहुँचते ही दूसरा द्वारपाल अड़ जाता है। वहाँ भी वह पहले के समान ही पुतला फोड़ कर द्वारपाल को डरा देती है तब वह क्षमा माँग कर आगे के लिए ऐसी गलती न करने का वचन देता है। इसी तरह यह धाय आगे पाँच दिन तक पाँच और पुतले फोड़-फोड़ कर उन पाँचों द्वारपालों को भी अपने अनुकूल कर लेती है।

सात दिन के बाद आठवें दिन रात्रि में वह उसी श्मशान में पहुँच जाती है जहाँ पर सेठ सुदर्शन वस्त्राभूषण त्याग कर प्रतिमायोग में खड़े होकर ध्यान कर रहे हैं। वह मधुर शब्दों में कहती है—

'सुदर्शन कुमार! तुम धन्य हो कि आज अभयमती महारानी तुम्हारे ऊपर अनुरक्त हो रही हैं। अब तुम मेरे साथ राजमहल में चलो और रानी के साथ दिव्य काम सुखों का अनुभव करो।'

कुछ क्षण उत्तर की प्रतीक्षा करती है किन्तु जब सुदर्शन को पाषाण की मूर्ति के समान अचल ही खड़ी पाती है तब वह उन्हें उठाकर अपने कंधे पर रख लेती है और राजमहल

की ओर चल पड़ती है। एक-एक परकोटे को पार कर रही है। उस समय बेचारे द्वारपाल हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं और एक शब्द भी नहीं कहते हैं। वह पंडिता बिना बाधा के सातों परकोटे पार कर रानी के महल के अंदर पहुँच जाती है। रानी तो प्रतीक्षा कर ही रही थी। धाय के कंधे पर सुदर्शन को देखकर स्वागत के लिए उठ खड़ी हो जाती है। तब रानी सुदर्शन से अनेक प्रकार का अनुनय विनय करना प्रारंभ कर देती हैं—

'हे सुदर्शन! आँखें खोलो और मेरी ओर देखो, यह राजमहल का वैभव और मेरा यौवन तुम्हारे पर न्यौछावर है। ध्यान को विसर्जित करो और मेरे साथ काम भोगों का अनुभव करो। अरे! यह तुम्हारी योगसाधना की उम्र नहीं है। वृद्धावस्था में योग साधना करना। अभी जवानी का आनंद लूटो।'

इतना सब कुछ कहने पर भी सुदर्शन मृतक के समान निश्चेष्ट हैं। तब वह पुनः कहती है—

'प्रियवल्लभ! तुम्हारे संयोग के बिना अब मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ। तुम अहिंसा धर्म के पालक हो। क्या मेरा मरण तुम्हें इष्ट है। बोलो, एक बार बोलो और नेत्र खोलो.....।''

सब कुछ बेकार है ऐसा समझकर भी रानी काम वासना से अंधी हो रही है अतः पुनरपि वह अनेक प्रकार की कुचेष्टायें करने लगती है, पूर्ण प्रयत्न से सुदर्शन के साथ भोग करना चाहती है। सब प्रयत्न करते-करते जब वह हार जाती है तब निराश हो धाय को पुकारती है—

'अरी पंडिते! अंदर आओ।'

पंडिता आ जाती है। तब रानी कहती है–

'आप इसे जहाँ से लाई हो, शीघ्र ही वहीं पहुँचा दो।'

धाय बाहर की तरफ दृष्टि डालती है तो देखती है कि प्रभात हो चुका है। तब वह कहती है—

'रानी! अब तो सबेरा हो चुका है, अब इसे बाहर लेकर जाना असम्भव है।'

रानी घबड़ा उठती है।

'अब क्या किया जाए?'

अंत में वह कुछ उपाय न देखकर आप स्वयं शयनागार में ही धरती पर बैठ जाती है। अपने वस्त्रों को फाड़ डालती है, बाल बिखेर लेती है, शरीर को नखों से नोंच-खसोंट लेती है और जोर-जोर से चिल्लाने लगती है–

'अरे, दौड़ो-दौड़ो!! मेरी रक्षा करो, यह कौन पापी दुष्ट मेरे महल में घुस आया है। हाय, हाय, यह पापी मेरे शील को भंग करना चाहता है।'

सेवक लोग अंदर आ जाते हैं और सारा दृश्य देखकर महाराजा धात्रीवाहन के पास सूचना पहुँचा देते हैं।

'राजन्! आज घोर अनर्थ हो गया है। पता नहीं पापी सुदर्शन सेठ आपके राजमहल में कब और कैसे चला गया था, उसने रानी को कष्ट पहुँचाया है।'

महाराज स्वयं महल में आते हैं सारा दृश्य देखकर अवाक् रह जाते हैं। रानी कहती है—

'महाराज! पता नहीं किस जन्म का पुण्य आज मेरे काम आया है कि जिससे आज मेरे शील की रक्षा हुई है। यह पापी सेठ मेरा शील भंग करना चाहता था। देखो इसने मेरी कैसी दुर्दशा की ओह!.....बड़े पुरुषार्थ से मैंने इस दुष्ट से अपने को बचाया है।'

राजा क्रोध में आकर कड़ककर बोलते हैं—

'अरे कर्मचारियों! तुम इस पापी, नराधम को शीघ्र ही यहाँ से उठावो और श्मशास भूमि में ले जाकर इसका शिर धड़ से अलग कर दो।.....ओह! देखा तो सही, अब यह अधम आँख मींचकर कैसा ढोंग दिखा रहा है। इसने शहर भर में अपने धर्मात्मापने का नाम उजागर कर रखा है। लोग कहते हैं कि सुदर्शन सेठ हर अष्टमी, चतुर्दशी को श्मशान में जाकर ध्यान करता है। अरे रे! तू इतना धूर्त निकला?'

कर्मचारी लोग राजा की आज्ञा पाते ही सुदर्शन को घसीटकर कमरे के बाहर निकाल लाते हैं और श्मशान की तरफ ले जाते हैं।

(5)

कर्मचारी लोग सुदर्शन को ले जाकर श्मशान में बिठा देते हैं। जल्लाद लोग नंगी तलवार लिए आ जाते हैं और सुदर्शन की ध्यानमुद्रा देखकर अट्टहास करके हँसते हैं। पुनः एक कहता है—

'अरे! धर्म का बाना पहनकर पाप करना बहुत आसान दिख रहा था तुझे, लेकिन एक दिन भंडाफोड़ होगा ही होगा

यह तूने शायद नहीं समझा था।

दूसरा कहता है—

'मारो, मारो जल्दी से इसे मौत के घाट उतारो, भाई देर क्यों कर रहे हो।'

तीसरा कहता है—

'भाई! जरा ठहरो, कुछ देर इसके दम्भ को देख लो..... देखो, कैसी ध्यान मुद्रा है। अ ह ह ह ह!!.....मानो साक्षात् कोई योगिराज ही ध्यान कर रहे हैं।'

पुनः पहला जल्लाद कहता है—

'अरे भाई! इसकी निश्चलता देखकर तो ऐसा लगता है कि मानों कोई पत्थर की गढ़ी गढ़ाई मूर्ति ही यहाँ थाप दी गई है।'

दूसरा कहता है—

'बड़े-बड़े नामी धर्मात्मा जब पाप करेंगे तब वे यदि ऐसा ढोंग न रचें तो फिर उनकी शान कैसे बढ़ेगी।'

पुनः तीसरा कहता है—

'अरे! अपने खानदान की शान तो इसने मिट्टी में मिला ही दी है अब खाक ध्यान कर रहा है।'

कर्मचारी कहते हैं—

'जल्लादों! तुम लोग आपस में ही क्या बकवास कर रहे हो? इस पापी अधम को ज्यादा देर तक जिंदा क्यों रख रहे हो? जल्दी इसका काम तमाम करो।'

इतना सुनते ही जल्लाद लोग एक साथ तलवार उठाते

हैं और 'हुंकार' शब्द करते हुए सुदर्शन की गरदन पर वार करते हैं। परंतु यह क्या? तलवार के प्रहार से तो सुदर्शन के गले में फूलों के हार बनते जा रहे हैं। जल्लादों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता है।

'अरे!! यह क्या चमत्कार है?

इसी बीच सुदर्शन के शील प्रभाव से वन के रक्षक यक्षदेव का आसन कंपायमान हो जाता है। वह अवधिज्ञान से सुदर्शन महापुरुष पर उपसर्ग होता हुआ जान करके शीघ्र ही वहाँ आ जाता है और उन सभी राजपुरुषों को कीलित कर देता है। दूर खड़ा होकर यह दृश्य देखने वाला एक नागरिक दौड़ा हुआ राज दरबार में पहुँचता है और राजा को सारी बातें सुना देता है।

यह सब समाचार सुनकर राजा ऐसा समझता है कि यह सुदर्शन कुछ मंत्रसिद्धि जानता है अतः मालूम होता है कि उसने अपने पाप को छिपाने के लिए मंत्र के बल से ही उन राजपुरुषों को कील दिया है। राजा के क्रोध का पारा अधिक चढ़ जाता है और वह तत्काल मंत्रियों को आदेश देता है—

'मंत्रियों! बड़े-बड़े मल्ल योद्धओं को वहाँ श्मशान भूमि में भेज दो। देखो, उस दुष्ट सुदर्शन सेठ ने कुछ कर्मचारियों को और जल्लादों को कील दिया है।'

राजा की आज्ञा पाते ही मंत्रीगण योद्धाओं को उस श्मशान भूमि में भेज देते हैं किन्तु पुनः समाचार मिलता है। वे सभी योद्धा भी वहाँ कील दिये गये हैं। तब राजा स्वयं ही

बहुत बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिए निकल पड़ता है। युद्ध का तुमुल बज उठता है। उधर यक्षदेव भी अपनी विक्रिया से चतुरंग सेना निर्मित करके रणभूमि में उपस्थित हो जाता है। कुछ ही क्षणों में देखते-देखते दोनों ही सेनाओं में घोर युद्ध होने लगता है।

बहुत देर तक घनघोर युद्ध होता रहता है। तब स्वयं राजा और यक्ष दोनों हाथी पर सवार होकर आमने-सामने उपस्थित हो जाते हैं। तब यक्षदेव कहता है–

'राजन्! मैं देव हूँ, तू मेरे हाथ से व्यर्थ ही क्यों प्राण गँवाता है। तू सुदर्शन सेठ की चिंता छोड़ दे और सुखपूर्वक राज्य कर। उसे दण्ड देने का विचार ही छोड़ दे वह सर्वथा निर्दोष है।'

राजा कहता है—

'अरे देव! तू व्यर्थ ही इस पापी का पक्ष लेने वाला कौन है? क्या तू मेरी शक्ति और मेरे धर्म प्रिय न्याय को नहीं जानता है जो कि यहाँ मेरे बीच में आकर अपना अपमान करा रहा है? तू जहाँ से आया है वहीं भाग जा।'

देव कहता है—

'राजन्! तुझे मेरे बल का ज्ञान नहीं है इसीलिए तू मेरा सामना करना चाहता है।'

राजा उत्तर देता है—

'देवता भी राजाओं के दास होते हैं यह बात क्या तुझे मालूम नहीं है? अरे यक्ष! तू मेरे नगर का ही तो रक्षक देव है

फिर भी मेरे अनुशासन के बाहर क्यों?'

उस समय क्रुद्र होकर यक्ष कहता है—

'अरे अन्यायी राजन्! अब मैं देखता हूँ तेरे में कितनी शक्ति है? आ, मेरे साथ युद्ध कर।'

राजा भी क्रोध में भड़क कर गर्जता हुआ बोलता है—

'अरे यक्ष! अब मैं तुझे अपना बाहुबल दिखाता हूँ।'

दोनों ही एक दूसरे पर बाणों की वर्षा शुरू कर देते हैं। कुछ देर तक दोनों में से एक भी नहीं हारते हैं। पुनः यक्षदेव राजा के ऊपर लगे हुए छत्र और ध्वजा को गिरा देता है पुनः एक प्रहार में हाथी को भी गिरा देता है। राजा रथ पर सवार होकर युद्ध करने में तत्पर है। यक्ष पुनः उसके रथ को तोड़ डालता है। राजा पृथ्वी पर खड़े-खड़े भी बाण वर्षा जारी रखता है तब यक्ष राजा को बुरी तरह से पराजित कर देता है। राजा के हाथ से धनुष गिर जाता है तब वह भागने को उद्यत होता है। यक्ष भी राजा के पीछे दोड़ता है और कहता है–

अरे मूर्ख! देख, अगर तू सेठ सुदर्शन की शरण में जाता है तो तेरे प्राणों की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती है।'

तब राजा भागता हुआ सेठ के निकट पहुँच कर उनके चरणों में गिर पड़ता है और बोलता है—

'बचाओ-बचाओ! मुझे बचाओ.....।'

सेठ सुदर्शन आँख खोलते हैं और यक्ष की तरफ देखकर पूछते हैं—

'हे भद्र! आप कौन हैं?'

यक्ष सुदर्शन को नमस्कार करके अपना परिचय देते हुए कहता है।

'हे धर्मधुरंधर! मैं आप जैसे धर्मात्माओं का सेवक यक्ष जाति का देव हूँ। आपके शील के प्रभाव से मेरा आसन कंपित हो उठा, तब मैंने अपने दिव्यज्ञान से यह जाना कि आपके ऊपर उपसर्ग आया हुआ है। भला धर्म पर आये हुए संकट का निवारण हम जैसे देव नहीं करेंगे तो फिर कौन करेगा?'

पुनः वह यक्ष राजा से कहता है—

'राजन्! तुम्हें अब मैं अपने अवधिज्ञान से जानी हुई सारी स्थिति स्पष्ट कर रहा हूँ। तेरी रानी अभयमती इन सुदर्शन के रूप को देखकर कामांध हो गई और पुनः उसने पंडिता धाय के द्वारा इस पुण्य पुरुष को श्मशान से ध्यान करती हुई अवस्था में ही मंगवा लिया। रात्रि में उसके साथ भोग-भोगने का प्रयत्न किया, किन्तु जब वह सफल नहीं हो सकी तब उसने अपना त्रिया चरित्र फैलाया। आश्चर्य इस बात का है कि आप जैसे न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ राजा भी उसके वाग्जाल में आ गये, कुछ आगापीछा नहीं सोचा और इन महापुरुष को कष्ट पहुँचाने का आदेश दे दिया। खैर! अब तुम इनकी शरण में आ चुके हो अब ये महानुभाव जो कुछ हमें आदेश देंगे मैं वही करूँगा।

राजा इतना सब कुछ सुनकर आश्चर्य से भर जाते हैं। रानी के प्रति क्रोध, द्वेष और ग्लानि से उनका हृदय भर जाता

है और सुदर्शन के प्रति आदर से उनका मस्तक झुक जाता है। राजा विनम्र होकर हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं–

'हे शील शिरोमणे! सुदर्शन! मेरे अपराध क्षमा करो। मैंने बिना विचारे जो भी कार्य किया है उसका मुझे घोर पश्चात्ताप है। हे पुण्य पुरुष! आप जैसे पुण्यशाली नररत्नों से ही यह धरा पवित्र मानी जाती है। यह चंपापुर नगर का अहोभाग्य है, जो कि आप जैसे शील धुरंधर नररत्न यहाँ पैदा हुए हैं।

इत्यादि प्रकार से राजा सुदर्शन सेठ की प्रशंसा करते हैं। उधर यक्षदेव भी सुदर्शन के चरणों में पुष्पांजलि समर्पण करके उनकी पूजा करता है, उनके ऊपर रत्नों की और पुष्पों की वर्षा करता है। पुनः राजा के मरे हुए सैनिकों को जीवित करके अपने स्थान को वापस चला जाता है।

राजा सुदर्शन सेठ से कहते हैं—

'हे सुदर्शन! मैंने जो भी अज्ञानतावश दुर्व्यवहार किया है उसे भुला दो और अब आप मेरे आधे राज्य को स्वीकार करो।'

सुदर्शन सेठ कहते हैं—

'राजन्! जिस समय मुझे श्मशान से धाय उठा कर ले चली थी। मैंने उसी समय यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'यदि मैं इस उपसर्ग से जीवित रहूँगा तो पाणिपात्र में ही भोजन करूँगा।–अर्थात् मुनि हो जाऊँगा।' इसलिए अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा लेऊँगा।'

उसी समय सेठ की भार्या मनोरमा भी अपने पुत्र सुकांत

को लिए हुए वहाँ आ जाती है। नगर के अन्य और भी गणमान्य स्त्री-पुरुष वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। इस पवित्र दृश्य को देखकर सभी सेठ सुदर्शन की जय बोलते हैं और उनकी शील की प्रशंसा करते हैं। एक वृद्ध सज्जन कहते हैं।

'अहो सुदर्शन! तुमने आज धर्म की ध्वजा फहराई है तुम धन्य हो, और धन्य है तुम्हारा शील।'

दूसरा पुरुष कहता है—

'हे शीलशिरोमणि! तुम युग-युग तक इस धरा पर जीवित रहो और पामर मनुष्यों को धर्म का मार्ग दिखलाते रहो।'

तीसरा कहता है—

'सुदर्शन! तुम्हारी कीर्ति युग-युग तक अमर रहे।'

मनोरमा सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है और प्रसन्न चित्त हो कहती है—

'प्राणनाथ! अब आप घर चलिये। धर्म के प्रसाद से आपका बहुत बड़ा संकट टल चुका है।'

सुदर्शन कहते हैं—

'हे प्रिये! अब आप अपने पुत्र की सुरक्षा करते हुए उसे धर्ममार्ग पर तत्पर करो। मैं तो अब जैनेश्वरी दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ।'

इतना सुनते ही मनोरमा घबराती हुई बोलती है—

'स्वामिन्! आप यह क्या कह रहे हैं?.....क्या आपके बिना मैं घर में रह सकूँगी?.....क्या अभी आपकी दीक्षा लेने की उम्र है?'

'मनोरमे! दीक्षा के लिए भी कोई उमर होती है क्या? देखो, इस संकट के आते समय ही मैंने नियम कर लिया था कि 'यदि मैं इस संकट से जीवित रहूँगा तो मुनिव्रत ले लूँगा।' अतः अब मेरा दीक्षा लेने का दृढ़ संकल्प है।'

इतना सुनते ही मनोरमा मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाती हैं उसके माता-पिता आदि उसे सँभालते हैं। सेठ सुदर्शन वहाँ से चलकर जिन मंदिर में आ जाते हैं।

(6)

सेठ सुदर्शन जिनमंदिर में आकर जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। विमलवाहन नामक मुनिराज की वंदना-पूजा करके उनसे अपने पूर्वभवों को पूछते हैं। 'महामंत्र के प्रभाव से मैं ग्वाले की पर्याय से यहाँ जैनकुल में सेठ का पुत्र हुआ हूँ' यह सुनकर 'महामंत्र' को हृदय में धारण करते हैं। अनंतर सुदर्शन, राजा धात्रीवाहन आदि से क्षमा कराकर महामुनि के समीप मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

राजा धात्रीवाहन भी सुदर्शन के धर्मपूर्ण अतिशय को देखकर तथा रानी के निंद्य चरित्र से विरक्त होकर अपने पुत्र को राज्य देकर सुदर्शन के पुत्र सुकांत को राज्यश्रेष्ठी पर पर नियुक्त कर आप भी महामुनि के समीप मुनि बन जाते हैं। राजा की अन्य अनेक रानियाँ तथा और भी नगर के कतिपय श्रावक-श्राविकाएँ दीक्षित हो मोक्षमार्ग की साधना में तत्पर होते हुए संघ में स्थित हो जाते हैं।

इधर रानी अभयमती को जब यह समाचार विदित

होता है तब वह सोचती है 'अब मैं अपने मुख को किसी के सामने कैसे दिखलाऊँगी' ऐसा सोचकर वृक्ष में फाँसी लगाकर अपना अपघात कर डालती है। और अकामनिर्जरा से मरकर पटना शहर में व्यंतरी की योनि में जन्म ले लेती है। वह पंडिता धाय भी भय से भाग कर पटना शहर में पहुँच जाती है। वहाँ देवदत्ता वेश्या के यहाँ ठहर कर उससे कपिला, रानी अभयमती और सुदर्शन की सारी घटना सुना देती है। वेश्या कपिला और अभयमती की हँसी उड़ाते हुए कहती है—

"पंडिता! अब तू मेरी कला देख, यदि मैं उस सुदर्शन मुनि को देख लूँगी तो अवश्य ही उसके तप को समाप्त कर दूँगी। यह विश्वास रख।

उधर विमलवाहन आचार्य अपने चतुर्विध संघ के साथ चंपापुर से विहार कर देते हैं। सुदर्शन मुनि कुछ ही दिनों में समस्त आगम के ज्ञाता होकर गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करने लगते हैं। वे अनेक तीर्थ स्थानों की वंदना करते हुए पटना शहर में पहुँचते हैं। वहाँ आहार के लिए निकलते हैं। अकस्मात् पंडिता धाय की दृष्टि उन पर पड़ती है वह दौड़ी हुई जाकर देवदत्ता वेश्या को कहती है—

"अरे चतुरे! देख यही वह सुदर्शन सेठ है जिसने अपने मंत्र के प्रभाव से चंपापुर में धर्म का चमत्कार दिखलाया है।"

देवदत्ता अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एक दासी को भेजकर सुदर्शन का पड़गाहन कराती है। सुदर्शन मुनि उस दासी को श्राविका समझ कर वहाँ पर खड़े हो जाते हैं। फिर उन्हें वह भीतर ले जाकर कमरे में बैठने के लिए निवेदन करती है।

उसी समय देवदत्ता वहाँ आ जाती है और कहती है—

'हे भद्र! तुम अभी तरुण हो, तुम्हें शरीर को कष्ट दे कर इस तप से क्या प्रयोजन है? मेरे पास बहुत-सा धन है। तुम उसके स्वामी बनकर मेरे साथ काम सुखों का अनुभव करो।'

मुनिराज मौन भंग कर उसे उपदेश देते हैं—

'हे मूर्ख! यह शरीर अपवित्र है, दुःखों का घर है, मल, मूत्र, वात, पित्त, कफ आदि से भरा हुआ है और नश्वर है। इसे सुख नहीं किन्तु 'सुख की' कल्पना मात्र ऐसे भोगों का साधन बनाना उचित नहीं है।'

वेश्या कहती है—

'महानुभाव! इस तरुणाई को विषय सुखों से सफल करके पुनः वृद्धावस्था में तप करते हुए नीरस जीवन बिताना ही सनातन परंपरा है। अतः अभी आपको भोग सुखों का आस्वादन करना ही चाहिए।'

मुनि कहते हैं—

'हे भद्रे! कौन ऐसा बुद्धिमान है जो कि सरसों के बराबर किंचित् भोग सुख के लिए मेरुपर्वत के समान इतने विशाल दुःखों के आमंत्रित करेगा? पहली बात तो भोग स्वयं हालाहल विष के समान हैं पुनः व्यभिचार तो एक सबसे बड़ा महापाप है। अगर हमें भोगों में ही सुख दिखता तो अपनी पत्नी को छोड़कर मुनि क्यों बनते?'

वेश्या कहती है—

'वर्तमान के सुखों को छोड़कर शरीर को सुखाने से भविष्य में क्या सुख मिलेगा? भला जिन कारणों से तत्काल

में ही दुःख मिल रहा हो उनसे आगे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?'

मुनिराज उत्तर देते हैं—

'अरी मुग्धे! किंपाक का फल देखने में बड़ा सुंदर और खाने में मधुर होता है किन्तु उसका फल प्राणघातक ही होता है। वैसे ही यह विषय-सुख प्रारंभ में ही सुंदर और मधुर दिखते हैं किन्तु फल देने के काल में नरक निगोदों में डाल देते हैं। और फिर व्याभिचार के पाप से बढ़कर तीन लोक और तीन काल में न कोई पाप हुआ है और न होगा ही। यदि तुझे भोगों की ही इच्छा थी तो किसी कुलीन पुरुष से विवाह करके गृहस्थाश्रम के भोग सुखों का अनुभव करती।.....किन्तु हाय? इस पापवासना से अपने आपको स्वयं तू अनंत-अनंत दुःखों का स्थान ऐसा नरक और जहाँ से अनंत कालों तक निकलना कठिन है ऐसे निगोद स्थान का पात्र बना रही है। अतः तू पापवासना को छोड़ और पवित्र ब्रह्मचर्य का पालन कर जिससे परलोक में देवी पर्याय को प्राप्त कर चिरकाल तक देव के साथ इंद्रिय सुख को भी भोग सकेगी। पुनः परंपरा से आत्मा के सुख का यदि तुझे आस्वाद मिल जायेगा तो तुझे संसार के इंद्रिय सुख दुःख-रूप ही प्रतिभासित होने लगेंगे।'

वेश्या कहती है—

'हे साधु! इस उपदेश को बस कर, अब तो तुम सरलता से मेरे साथ भोग करो तो ठीक, अन्यथा में बलात् ही तुमसे काम सेवन करूँगी।'

इतना कहकर वह अपने घर के दरवाजे बंदकर मुनि

को उठाकर शय्या पर बिठा देती है। मुनिराज उपसर्ग आया समझकर मन में नियम कर लेते हैं कि—

'इस उपसर्ग के दूर होने पर ही मैं आहार-विहार करूँगा अन्यथा मेरे चतुराहार का त्याग है।

साथ ही वे यह भी नियम ले लेते हैं कि—

'यदि इस उपसर्ग का निवारण हो जावेगा तो भी अब मैं नगर में विचरण नहीं करूँगा। वन में रहकर ही आत्मध्यान करूँगा।'

वह दुष्टा वेश्या नाना प्रकार की कुचेष्टाओं द्वारा सुदर्शन को चलायमान करने का प्रयास करती है। बलात् उपभोग करने की चेष्टा करती है किन्तु वे मुनिराज कछुए के समान अपनी इंद्रियों को संकुचित करके अपनी आत्मा से शरीर को भिन्न समझते हुए बारह भावनाओं का चिंतवन कर रहे हैं। वह वेश्या इस तरह तीन दिन दो रात्रि पर्यंत नाना प्रकार की पीड़ा देती है, डर दिखाती है और काम को उद्दीपिन करने वाले अनेक कारण को उपस्थित करती हैं।

जब वह सर्वथा ही असफल हो जाती है तब तीसरे दिन की रात्रि में उन्हें उठाकर ले जाकर पटना शहर के बाहर श्मशान में खड़ा कर देती है। सुदर्शन मुनि श्मशान में प्रतिमायोग से स्थित हुए शुद्धात्मा का अवलोकन कर रहे हैं।

(7)

इसी रात्रि में आकाश मार्ग से जाती हुई एक व्यंतरी का विमान उनके ऊपर रुक जाता है आगे नहीं बढ़ता है। वह

व्यंतरी (अभयमती रानी का जीव) नीचे उतर कर देखती है और सुदर्शन को देखते ही क्रोध व अहंकार से चूर हो कहती है—

"अरे दुमूर्ख! तूने अहंकार में आकर मेरी बात नहीं मानी थी और मुझे अपयश का पात्र बनाया था। देख, तेरे लिए आर्तध्यान से मरकर मैं व्यतंरी हूई हूँ। अब मैं तुझे मजा चखाऊँगी। उस समय तो किसी देव ने तेरी रक्षा की थी अब मैं देखती हूँ यहाँ तेरी रक्षा करने वाला कौन है?"

सुदर्शन मुनि समझ लेते हैं कि पुनः मुझ पर उपसर्ग आ चुका है। अतः वे पुनरपि उपसर्ग दूर होने तक चतुराहार का त्याग कर आत्म चिंतवन में लीन हो जाते हैं। वह व्यंतरनी विकराल डाकिनी का रूप बनाकर अपनी विक्रया से आंधी, तूफान, पत्थर बरसाना आदि अनेक प्रकार के घोर उपद्रव शुरु कर देती है।

कभी-कभी वह स्त्रियों के हाव, भाव, विलास, विभ्रम, नृत्य, गान आदि करते हुए उन्हें ब्रह्मचर्य से च्युत करने का प्रयत्न करती है। पुनः असफल होकर मारना, पीटना, बांधना आदि कष्टों से द्वारा उन्हें बाधा पहुँचाती है। वह व्यंतरी सात दिनों तक घोर उपसर्ग करती रहती है। अकस्मात् चंपापुर में सुदर्शन की रक्षा करने वाला वही यक्ष उधर आ जाता है और 'सुदर्शन मुनि पर पुनरपि वह रानी का जीव व्यंतरी होकर उपसर्ग कर रहा है' समझकर वहीं ठहर जाता है। वह उस व्यंतरी के सामने आकर ललकारता है।

'अरे अभयमती! देख, तूने ऐसा दुष्कृत्य किया है कि

जिससे राजकुल को ही कलंकित नहीं किया है बल्कि युग-युग के लिए कुलटा नारियों में अपना नाम अमर कर दिया है। कुछ अकामनिर्जरा के पुण्य से तुझे यह व्यंतरी योनि मिल गई है अब पुनः तू इन महामुनि पर दारुण उपसर्ग कर ऐसे निकाचित कर्मों को बाँध रही है कि शायद जिसका फल तुझे एकेंद्रिय पर्याय में ले जावे और वहाँ से पुनः तुझे निगोदवास में डाल दे।.....अरे मूर्खे! अपने आप तू अपने परलोक को क्यों बिगाड़ रही है?

वह व्यंतरनी कहती है—

"अरे यक्ष! तूने उस समय अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था और अब तुझे मालूम होना चाहिए कि मैं भी देवयोनि में आ चुकी हूँ। अतः मैं तुझे भी परास्त करने में समर्थ हूँ अतः अब तू बकवास मत कर यहाँ से भाग जा, मुझे इस मेरे शत्रु से निपट लेने दे।"

यक्ष कहता है—

"हे भद्रे! मैं तेरे हित की बात कहता हूँ सो मान ले अन्यथा मेरे आगे तेरी कितनी शक्ति है सो अभी पता चल जायेगा।"

व्यंतरी कहती है—

"मैं जब तक इसके अहंकार को चूर्ण नहीं कर दूँगी तब तक इसका पीछा नहीं छोडूँगीं। इसने जैसे मुझे अपकीर्ति का भाजन बनाया है ऐसे ही मैं भी दुर्गति का भाजन बनाऊँगी। यह उपसर्ग से घबड़ाकर जब दुर्ध्यान से मरकर दुर्गति में चला जायेगा तभी मैं शांति ग्रहण करुँगी।'

पुनः वह विक्रिया से गर्जती हुई मुँह से अग्नि उगलते हुए सुदर्शन की तरफ दौड़ती है कि यक्ष अपनी गर्जना से उसे पराजित कर देता है। तब वह हारकर अंत में वहाँ से भाग जाती है।

इधर उपसर्ग से रंचमात्र भी विचलित न होने वाले महामुनि सुदर्शन आत्म ध्यान से विशुद्धि बढ़ाते हुए शुक्लध्यान में आरूढ़ हो जाते हैं। देखते ही देखते मोहनीय कर्म का नाश कर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों को भी निर्मूल कर देते हैं। उसी समय उनके अंदर केवल ज्ञानरूपी सूर्य उदित हो जाता है। स्वर्ग में देवों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं, वे अवधिज्ञान से सारा समाचार विदित कर वहाँ आ जाते हैं। अर्धनिमिष मात्र में वहाँ गंधकुटी की रचना कर देते हैं। महामुनि सुदर्शन केवलज्ञान प्रगट होते ही इस पृथ्वीतल से 5000 धनुष (20000 हाथ) ऊपर आकाश में अधर पहुँच जाते हैं और वहाँ पर देवों द्वारा रची गई गंधकुटी के मध्य कमलासन पर अधर विराजमान हो जाते हैं।

यह यक्षदेव भक्ति से गद्‌गद हो केवली भगवान की पूजा कर अपने जीवन को धन्य समझता है। पटना शहर के राजा अपने अंतःपुर परिवार और प्रजा के साथ आकर भगवान् केवली का दर्शन करके उनकी पूजा करते हैं। इस अतिशय को देखकर वह व्यंतरी भी वहाँ आती है और गंधकुटी के मध्य विराजमान सुदर्शन केवली के सन्मुख शांतचित होकर अपने अपराधों की क्षमा याचना करते हुए सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेती है। पंडिता धाय और देवदत्ता भी वहाँ आकर अपने

दुष्टकृत्यों का प्रायश्चित करते हुए सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेती हैं तथा अपने योग्य व्रतों को भी धारण कर लेती हैं।

सुदर्शन मुनि के केवलज्ञान का समाचार सुनकर चम्पापुर से मनोरमा भी अपने पुत्र सुकांत के साथ वहाँ आती है। केवली भगवान् का दर्शन करके सुकांत को गृहस्थोचित शिक्षा देकर आप आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लेती हैं। अन्य कितने ही भव्य जीव मुनि, आर्यिका हो जाते हैं कितने ही श्रावक-श्राविकाओं के व्रत ग्रहण कर लेते हैं।

सुदर्शन केवली अंत में अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर पौष शुक्ला पंचमी के दिन निर्वाण धाम को प्राप्त कर लेते हैं। असंख्य देव-देवियों के साथ इंद्र आकर सुदर्शन मुनि का निर्वाण महोत्सव मनाते हैं। तभी से वह पुण्यस्थल तीर्थ बन जाता है।

स्त्री परीषह को जीतने वाले शीलधुरंधर सुदर्शन केवली अपने आश्रित भव्यजीवों को अपने ही समान शीलधुरंधर बनावें और इस चारित्र को पढ़ने-सुनने वाले भी सुदर्शन सेठ का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को पवित्र बनावें यही इस कथा को लिखने का सार है।

महामुनि सुकुमाल

(1)

उज्जयिनी नगरी के बाहरी पवित्र उद्यान में नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारी अवधिज्ञानी महामुनि विराजमान हैं। सेठानी यशोभद्रा बहुत ही विनय से हाथ जोड़कर पूछती है–

''हे भगवन्! क्या मेरी आशा इस जन्म में सफल होगी?''

मुनिराज यशोभद्रा का अभिप्राय समझ कर कहते हैं–

''हाँ, पुत्रि! तेरी अभिलाषा अवश्य ही पूर्ण होगी। तेरे होने वाला पुत्र भव्य-बुद्धिमान और गुणों का खजाना होगा। किन्तु उसके साथ चिंता की बात यह होगी कि तेरे स्वामी सेठ सुरेन्द्रदत्त पुत्र का मुखावलोकन करते ही घर कुटुम्ब छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा ले लेंगे तथा तेरा होनहार पुत्र भी जिस दिन नग्न दिगम्बर मुनि का दर्शन कर लेगा उसी दिन दीक्षित हो जावेगा।''

मुनिराज के मुखकमल से भविष्यवार्ता सुनकर सेठानी को इतना हर्ष होता है कि मानों आज ही उसे पुत्ररत्न प्राप्त हो गया है। साथ ही ''पति के वियोग का होना'' ऐसा सोचते ही वह सिहर उठती है, उसके चेहरे पर विषाद की रेखा खिंच जाती है। सेठानी यशोभद्रा बार-बार मुनिनाथ को नमस्कार करके हर्ष और विषाद के भावों को हृदय में दबाते हुए घर आ जाती है। सेठ सुरेन्द्रदत्त और सेठानी यशोभद्रा दोनों ही दम्पति धर्मध्यान पूर्वक अपना कालयापन कर रहे हैं। कुछ

दिनों बाद यशोभद्रा गर्भ धारण करती है। घर में प्रसन्नता का वातावरण बन जाता है। नव मास पूर्व होने पर सेठानी पुत्ररत्न को जन्म देती है। परिवार के लोग और सेठ जी सभी मिलकर, पुत्र जन्म का बहुत बड़ा उत्सव मनाते हैं। पुत्र का ''सुकुमाल'' ऐसा नामकरण करके सेठ सुरेन्द्रदत्त पुत्र का मुखावलोकन कर विरक्तमना होते हुए वन में जाकर गुरु के पास दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

सती यशोभद्रा पति के वियोग से बहुत ही दुःखी होती है फिर भी पुत्र के लालन-पालन में मन को व्यस्त करते हुए धीरे-धीरे संतोष को धारण कर लेती है। पुण्यशाली बालक सुकुमाल हँसता मुस्कराता हुआ परिवार-जनों के हाथों-हाथों में खेला करता है। माता यशोभद्रा ने गुरु के मुख से सुना था कि 'बालक जब भी निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन कर लेगा तब मुनि हो जावेगा।'' यही कारण था कि माता अपने महल में ही सारे सुख साधन उपलब्ध कराकर सुकुमाल को घर से बाहर जाने का अवकाश ही नहीं देती है। धन सम्पन्न सेठ के घर का परकोटा बहुत ही बड़ा है। उसके अंदर ही बाग, बगीचे, बावड़ियाँ आदि बने हुये हैं। सुकुमाल बाल-वय को बिताकर युवा हो जाते हैं। तो यशोभद्रा बड़े-बड़े घराने की सुंदर-सुंदर बत्तीस कन्याओं से उनका विवाह करा देती हैं। सुकुमाल का महल बहुत ही बड़ा है जहाँ पर उनकी बत्तीस स्त्रियों के रहने के पृथक्-पृथक् स्थान हैं। क्रीड़ा के लिए उद्यान, सरोवर आदि हैं। माता यशोभद्रा पुत्र के मोह में

विवेकशून्य हो अपने महल में दिगम्बर मुनियों के आने का पूर्णतया निषेध कर देती है। सुकुमाल को इस बात का और बाहर के वातावरण का कुछ भी पता नहीं है। वे नाना प्रकार के पंचेन्द्रिय संबंधी भोगों को भोगते हुए सभी भार्याओं के साथ सांसारिक सुखों का अनुभव कर रहे हैं। माता यशोभद्रा भी बहुत ही प्रसन्न रहती हैं।

एक दिन किसी अन्य देश का व्यापारी उज्जयिनी नगरी में आता है और वह एक रत्नकंबल राजा प्रद्योतन को दिखाता है किन्तु उसका मूल्य अधिक होने से राजा उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वह व्यापारी निराश हो जाने को उद्यत होता है कि इसी बीच यशोभद्रा को पता लगते ही वह उस व्यापारी को बुलाकर उसका वह बहुमूल्य रत्नकंबल खरीद लेती है। उस कंबल में बहुत से अमूल्य रत्न जड़े हुए हैं अतः रत्नों की कठोरता से सुकुमाल उसे पसंद नहीं करते हैं तब माता यशोभद्रा उसके टुकड़े-टुकड़े करवा कर अपनी बत्तीसों बहुओं के लिए उनके पैरों की जूतियाँ बनवा देती हैं।

एक बार एक पुत्रवधू अपनी जूती छत पर उतार कर अपने पैर धोने में लग जाती है कि इसी बीच एक चील आकर उसे माँस का टुकड़ा समझकर उठा ले जाती है और उसे किसी वेश्या की छत पर डाल देती है। वेश्या उस रत्नजटित जूती को देखकर आश्चर्यचकित हो उसे राज दरबार में दिखाती है। राजा देखकर बड़ा आश्चर्यचकित होता है। मन ही मन सोचने लगता है–

''भला, मेरे शहर में इतना बड़ा कौन-सा सेठ है कि

जिसकी पत्नी ऐसे रत्नों से जड़ी हुई जूती पहनती है।

राजा की आज्ञा से मंत्री पता लगाकर कहते हैं–

''राजन्! आपके नगर में सेठ सुकुमाल जी रहते हैं उनके धन का कोई ठिकाना ही नहीं है। यह जूती उनकी स्त्री की है।''

यह बात ज्ञातकर राज सुकुमाल को देखने के लिए उत्कंठित हो मंत्रियों को साथ लेकर उनके घर आ जाते हैं। सेठानी यशोभद्रा राजा को आया हुआ सुनकर उनका बहुत ही आदर-सत्कार करती हैं और श्रेष्ठ सिंहासन पर उन्हें बिठाती हैं। राजा प्रेमवश सुकुमाल को अपने आसन पर ही बिठा लेते हैं। यशोभद्रा दीपक को जलाकर राजा की आरती उतारती हैं पुनः मंगल हेतु कुछ सरसों क्षेपण कर देती है जिसके कुछ दाने सुकुमाल के आसन पर गिर जाते हैं। उस समय रत्नों की जगमगाहट और दीपक की ज्योति दोनों के बढ़े हुए तेज को सुकुमाल की आँखें नहीं सहन कर पाती हैं अतः उनके आँखों में पानी आ जाता है। और उन्हें सरसों के दाने चुभते हैं तो वे बार-बार आसन बदलते हैं। राजा सेठानी से इसका कारण पूछते हैं। तब वह कहती है–

''राजन्! आज तक इसने रत्नों के प्रकाश के सिवाय दीपक का प्रकाश देखा ही नहीं है अतः इसकी आँखों से पानी आ गया है और इसको सरसों के दाने चुभ रहे हैं। अतः यह स्थिर नहीं बैठ रहा है।'' कुछ क्षण बाद यशोभद्रा राजा के साथ ही सुकुमाल को बिठाकर दोनों को एक साथ भोजन कराती है। उस समय सुकुमाल थाली में परोसे हुए चावलों में

से एक-एक चावल को बीन-बीन कर खाते हैं। भोजन के अनंतर राजा पुनः यशोभद्रा से इसका कारण पूछते हैं, वह कहती है–

"राजन्! प्रतिदिन इसे जो चावल खाने को दिये जाते हैं वे खिले हुए कमलों में रखकर सुगंधित किये हुए होते हैं। पर आज वे चावल थोड़े होने से मैंने उन्हें दूसरे चावलों के साथ मिलाकर बना लिया है। यही कारण है कि यह एक-एक चावल चुन-चुनकर खा रहा है"

राजा इस उत्तर को सुनकर बहुत ही खुश होते हैं और कहते हैं-

"भद्रे! अब तक तो ये आपके ही घर के सुकुमाल थे, पर अब मैं इन्हें "अवन्ति सुकुमाल" के नाम से सारे देश का सुकुमाल बनाता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे देश भर में इस सुंदरता और इस सुकुमारता के यही एक आदर्श हैं। अन्य कोई ऐसा नहीं है।

तत्पश्चात् राजा प्रद्योतन सुकुमाल के साथ ही महल के उद्यान में बनी हुई बावड़ी में जलक्रीड़ा करने के लिए पहुँचते हैं। वहीं बावड़ी में उतरकर बहुत देर तक जलक्रीड़ा करते हुए राजा की अंगुली की बहुमूल्य अंगूठी गिर जाती है, राजा उसे देखने की भावना से बावड़ी के तलभाग में दृष्टि डालते हैं तो उन्हें उस जल के भीतर हजारों बड़े-बड़े सुंदर बहुमूल्य भूषण पड़े हुये दिखाई देते हैं। उन्हें देखकर राजा को बहुत ही आश्चर्य होता है। वे सुकुमाल के अनंत वैभव को देखकर चकित रह जाते हैं और मन ही मन सोचने लगते हैं–

"अहो! पुण्य की महिमा अपार है। धन, धान्य आदि संपदाओं का मिलना, पुत्र और सुंदर स्त्री का प्राप्त होना, बंधु-बांधवों का सुखी होना, अच्छे-अच्छे वस्त्र आभूषण का होना, तिमंजिले, सतमंजिले आदि महलों में रहना, खाने पीने की अच्छी से अच्छी वस्तु प्राप्त होना, विद्वान होना, नीरोग होना आदि जितने भी सुख सामग्री हैं, वह सभी जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने से ही मिल सकते हैं इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। वास्तव में जो धर्म स्वर्ग के इंद्र-अहमिंद्र आदि का वैभव प्राप्त करा देता है, मध्यलोक के चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तो क्या तीर्थंकर के भी विपुल अनुपम वैभव को प्राप्त करा देता है। भला वह धर्म क्या जो इस तरह से सुकुमाल जैसे सुंदर रूप, सौकुमार्य और अतुल वैभव को प्राप्त नहीं करा सके अपितु अवश्य ही करा देता है।

इसीलिये तो जैनाचार्यों का उपदेश है कि भाई! दुःख देने वाले पापमार्ग को, मिथ्यात्व को छोड़ों और सच्चे जिनधर्म की शरण ग्रहण करो। दान, पूजा, उपवास आदि के द्वारा सातिशय पुण्य संचित करके संसार के नाना अभ्युदयों को प्राप्त करो, तदनंतर क्रम से सर्वकर्मों को नष्ट कर मोक्ष को भी प्राप्त करो। यही तो जिनागम का बार-बार उपदेश है।

इत्यादि प्रकार से सोचते हुए राजा प्रद्योतन बार-बार सुकुमाल के गुणों की व पुण्य की प्रशंसा करते हुए अपने राजमहल में चले जाते हैं। इसके बाद उस अवंतीदेश में सर्वत्र ही सुकुमाल के रूप, गुण, वैभव की तथा सुकुमारता की चर्चा चलने लगती है।

एक दिन जैनतत्व के परम विद्वान् दिगम्बर मुनि श्री गुणधराचार्य सुकुमाल की आयु बहुत ही अल्प जानकर वहाँ आकर सुकुमाल के महल के पीछे उद्यान में ठहर जाते हैं और चातुर्मास लग जाने से वहीं वर्षायोग धारण कर लेते हैं। ये गृहस्थावस्था के सुकुमाल के मामा थे। सेठानी यशोभद्रा को यह समाचार विदित होते ही वह बहुत ही दुःखी होती है। वह शीघ्र ही वहाँ आकर मुनि से निवेदन करती है–

''प्रभो! आप चातुर्मास में कभी भी ऊँचे स्वर से स्वाध्याय या पाठ न कीजिए। ऐसी मेरी विनम्र प्रार्थना है।''

मुनिराज यशोभद्रा की प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं और उसे आश्वस्त करने के लिए ''तथास्तु'' ऐसा उच्चारण कर देते हैं।

चातुर्मास योग पूर्ण हो जाता है। श्री गुणधराचार्य जिनागम के अनुसार कार्तिक अमावस्या की पिछली रात्रि में वर्षायोग समापन की क्रिया करके चातुर्मास योग समाप्त कर देते हैं। वे शेष रही रात्रि में उच्च स्वर में लोकप्रज्ञप्ति का पाठ करना शुरु कर देते हैं। उसमें वे अच्युत स्वर्ग के देवों की आयु, उनके शरीर की ऊँचाई, वहाँ के वैभव आदि का विस्तार से वर्णन करने लगते हैं। सुकुमाल की नींद खुल जाती है। वे एकाग्रचित हो उस अच्युत स्वर्ग के वैभव का वर्णन सुन रहे हैं कि तत्क्षण ही जातिस्मरण हो जाता है। मन ही मन सोचने लगते हैं–

''अहो! मैं पूर्वजन्म में इसी अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव था, वहाँ के विपुल और अतुल वैभव को प्राप्त कर भी, जब मैं तृप्त नहीं हो सका तो क्या इस तुच्छ वैभव से तृप्त हो

सकता हूँ। जब वहाँ की हजारों देवांगनाओं से साथ मधुर भोग भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ तो क्या इन बत्तीस भार्याओं के मध्य रहते हुए तृप्त हो सकता हूँ। अहो! वहाँ की आयु तो सागरों के हिसाब से थी जब कि यहाँ की यह मनुष्य पर्याय की आयु तो उसके आगे राई रत्ती भी नहीं है।''

इतना सोचते-सोचते उन्हें अपने और भी कई भवों का स्मरण हो जाता है, और वे तिर्यंचयोनि के नाना दुःखों का स्मरण कर कांप उठते हैं। वे उसी समय चुपके से महल से उतर कर मुनिराज के पास आ जाते हैं और उनके चरणों में भक्ति से नमस्कार कर उन्हीं के पास बैठ जाते हैं। तब महामुनि श्री गुणधर आचार्य कहते हैं–

''हे वत्स! अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिन की रह गई है, इसलिये अब तुम्हें इन विषयभोगों का त्याग कर अपना आत्महित कर लेना उचित है। देखो, ये विषयभोग आरंभ में बहुत मधुर लगते हैं किन्तु इनका अंत बहुत ही दुःखदायी है। जो पंचेन्द्रियों के विषय में ही सब सुख समझकर उन्हीं में फँसे रहते हैं, उन्हें कुगतियों के अनंत दुःख उठाने पड़ते हैं। इसीलिए ऋषियों के इन भोगों को ''भोगा भुजंग भोगाभाः'' कहकर इन्हें सर्प से भी भयंकर जहरीला बतलाया है। इसलिए हे भव्योत्तम! तुम अब इनका शीघ्र ही त्याग करो।''

मुनिराज के उपदेश से सुकुमाल को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे उसी समय जिनदीक्षा की याचना करने लगते हैं। इधर सूर्य भी मानों सुकुमाल की दीक्षा के लिए ही पूर्व दिशा में उदित हो जाता है तभी आचार्य देव सुकुमाल को

नग्न दिगम्बर अर्हंत मुद्रा प्रदान कर दीक्षित कर देते हैं। अब सुकुमाल के हाथ में मयूर पंखों की पिच्छी और काठ के कमंडलु के सिवाय किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं है।

श्री गणधर आचार्य वर्षायोग समाप्ति के अनंतर अपना कार्य पूर्ण कर अन्यत्र विहार कर जाते हैं और सुकुमाल मुनि गुरु की आज्ञा से उसी समय वन की ओर विहार कर जाते हैं।

(2)

सुकुमाल महामुनि वन की ओर चले जा रहे हैं। मार्ग की कंकरीली जमीन पर नंगे पैर चल रहे हैं। जिन्होंने भू पर नंगे पैर कभी नहीं रक्खे थे, मंगल आरती के समय दीपक की लौ के निमित्त से जिनकी आँखों में आँसू आ गये थे, मंगल के लिए क्षेपण किये गये सरसों के कतिपय दाने भी जिन्हें चुभने लगे थे, जिन्हें रत्नों का कंबल कठोर लगा था तब उस कंबल की जूतियां बनवाई गई थीं। ऐसे सुकुमारगात्र सुकुमाल नग्न दिगम्बर मुनि बनकर नंगे पैरों पैदल चल रहे हैं।

अहो! परिणामों का मोड़ क्या नहीं कर सकता? कहां तो एक क्षण पूर्व महल की कोमल शय्या, कोमल आसन और कोमल से भी कोमल शरीर सुख? और कहां यह असहाय निर्ग्रंथ दिगंबर मुद्रा और उसकी कठोर से कठोर चर्या?

कंकरीरली-पथरीली जमीन पर चलने से उनके फूलों से कोमल पाँवों में घाव हो जाते हैं, उनसे खून की धारा बहने लगती है। परन्तु शरीर से भी निस्पृह हुए सुकुमाल को

उसकी तरफ कुछ भी लक्ष्य नहीं है चूँकि अब उनका लक्ष्य बदल चुका है। वे अब इस नश्वर शरीर से अविनश्वर सुख प्राप्त करने के मार्ग में चल चुके हैं। इस अशुचि, अपिवत्र सात धातुओं और उपधातुओं से मलिन शरीर से शुचि, पवित्र चैतन्यधातु से निर्मित ज्ञानधन आत्मा को परम पवित्र बनाने का मार्ग पकड़ चुके हैं। वे उस समय संसार, शरीर, कुटुम्ब और पंचेन्द्रियों के भोगों से पराङ्मुख हुए उनके निःसार स्वरूप का चिंतवन करते हुये और अपने चर्मचक्षुओं से चार हाथ आगे जमीन देखते हुए चल रहे हैं। पिच्छी, कमंडलु मात्र उपकरणरूप परिग्रह से सहित होते हुए भी अंतरंग-बहिरंग में सर्वथा परिग्रह से रहित होने से पूर्ण निष्परिग्रही हो चुके हैं।

इधर पांवों से खून बहता जा रहा है, उधर वे महामुनि आगे बढ़ते जा रहे हैं। वे पैरों से ही आगे नहीं बढ़ रहे हैं प्रत्युत् परिणामों की विशुद्धि से भी आगे बढ़ते जा रहे हैं। निर्जन वन में पहुँचते हैं वहाँ पहुँचकर वे एक पहाड़ पर चढ़कर वहीं पर बनी हुई एक गुफा में प्रवेश करते हैं। वहाँ वे विधिवत् प्रायोपगमन संन्यास ग्रहण कर ध्यानमुद्रा में खड़े हो जाते हैं। जिस संन्यास विधि में अपने से और पर से, सभी से भी सेवा-शुश्रूषा करने कराने का त्याग कर दिया जाता है उसको 'प्रायोपगमन' सल्लेखना मरण कहते हैं। सुकुमाल मुनि ध्यान मुद्रा में खड़े होकर बारह भावनाओं के चिंतवन के साथ-साथ अपने आत्म तत्व का चिंतवन कर रहे हैं।

उसी समय एक सियारनी अपने पिल्लों को साथ लिये हुए वन में घूम रही है। वह सहसा खून की धार को देखती है

और चाटने लगती है। उसी खून की धार को चाटते-चाटते वह पहाड़ की गुफा में आ जाती है जहाँ कि सुकुमाल मुनि ध्यानस्थ हैं, वह उन्हें गौर से देखती है और उसी क्षण उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला भड़क उठती है, वह उनको घूरते हुए नजदीक आ जाती है और दहाड़ मारकर धावा बोल देती है। वह तत्क्षण ही उन महामुनि के पैर को धर दबोचती है और अपने पैने तीक्ष्ण दंतों से उसे खाने लगती है। उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी मुनिराज के पैर का माँस खाना शुरू कर देते हैं।

ओह! यह है सुकुमाल की परीक्षा का अवसर! कहाँ उनका कोमल शरीर? और कहां यह दारूण घोर उपसर्ग? तथा कहाँ यह उनकी सहनशीलता? जो कभी एक तिंनके का चुभ जाना भी नहीं जानते थे वे आज ऐसे घोर कष्ट को कैसे सह रहे हैं? वे महामुनि पशुकृत् उपसर्ग आया हुआ देखकर सुमेरु के समान निश्चल हो जाते हैं। इधर चार हिंसक पशु अनके पैर के मांस को नोंच-नोंच कर खा रहे हैं। उधर सुकुमाल मुनि सोच रहे हैं–

"अहो! आत्मन्! तूने नरकों में इससे भी अधिक घोर वेदना का अनुभव किया है। अरे! वहां करोंत से चीरा जाता, कढ़ाई, में तले जाना, भाड़ में भूना जाना, तलवार से छिन्न-भिन्न टुकड़े किए जाना आदि पता नहीं कितने-कितने कष्ट झेले हैं? उसके आगे यह दुःख क्या है? पशु योनि में भी हत्यारे व्याधों द्वारा बाण से बेधे जाना, काटे जाना, मारे जाना और भून-भून कर या पका-पका कर खाए जाना

आदि घोर दुःखों का अनुभव किया है। अतः हे आत्मन्! तू अब बड़ी ही शांति से इस दारूण वेदना को सहन कर! देख तूने पूर्वभवों में ऐसे ही किसी को सतया होगा या इस सियारनी को ही कष्ट दिया होगा जिसका कि बदला यह चुका रही है। भला लिए हुये कर्ज को चुकाने में घबराहट क्यों?

फिर दूसरी बात यह है कि यह शरीर तो जड़ है, पुद्गल से बना हुआ है अतः पड़ोसी के समान है, पर है, अपना नहीं है। न मैं शरीर हूँ, न मैं मनुष्य हूँ और न मैं संसारी ही हूँ। मुझे न जन्म है, न मरण है, न पीड़ा है और न उपसर्ग ही है। मैं तो चिच्चैतन्यस्वरूप ज्ञान से निर्मित दिव्य शरीर वाला हूँ। मैं अखंड हूँ, एक हूँ, चिन्मयधातु से निर्मित हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ और परमानंद स्वरूप हूँ।

इत्यादि प्रकार से चिंतवन करते हुए सुकुमाल मुनिराज अपने आप में पूर्णतया स्थिर हैं, सावधान हैं। क्रोध, कषाय और द्वेष की बात को बहुत दूर, उनके चित्त में जरा भी चंचलता नहीं है। एक दिन व्यतीत हो चुका है, रात्रि भी पूर्ण हो रही है। दूसरा दिन आता है चला जाता है पुनः रात्रि आकर अपने बारह घंटे पूर्ण कर निकल जाती है। वह सियारनी अपने तीन बच्चों के साथ वैसे ही खा रही है अभी तक उसकी तृप्ति नहीं हुई है, क्षुधा शांत नहीं हो रही है और न ही कषाय शमित हुई है। वह जोर-जोर से माँस को नोंचती है पुनः धीरे-धीरे खाती है। बार-बार गहरे घावों पर दाँतों का और अपने नुकीले पंजों का प्रहार करती है। तीसरे दिन

सुकुमाल मुनि के शरीर से प्राणपखेरू निकल जाते हैं और शरीर निर्जीव हो जाता है।

समताभाव पूर्वक प्राण छोड़ने से सुकुमाल मुनि की आत्मा अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो जाती है। अंतर्मुहूर्त (48 मिटिन के अंदर) ही उनका नवयौवन संपन्न, दिव्य वैक्रियिक, अत्यंत सुंदर शरीर बनकर पूर्ण हो जाता है। वे अपने दिव्य अवधिज्ञान से जान लेते है कि 'मैं सुकुमाल नाम का श्रेष्ठी था, पंचेन्द्रियों के विषय भोगों में फँसा हुआ था। अपने मामा महामुनि के उपदेश से प्रबोध को प्राप्त होकर मात्र तीन दिन में जिनमुद्रा के प्रसाद से आज इस दिव्य देवलोक में उत्पन्न हो गया हूँ। अहो! धर्म की महिमा अपार है। ऐसा सोचकर वे देव पहले तो भगवान् जिनेन्द्र के मंदिर में पहुँचकर जिन प्रतिमाओं की पूजा, अर्चा, भक्ति करते हैं पुनः अपने आश्रय में आये हुए देव-देवी आदि परिकरों को देखकर प्रसन्न होते हुए उन्हें अपने-अपने कार्यों में नियोजित कर देते हैं।

इधर सुकुमाल मुनि के धीरतापूर्वक वीरमरण करने पर तत्क्षण ही देवों के आसन कम्पित हो जाते हैं। बहुत से देवगण वहाँ आकर 'जय-जय' शब्दोच्चारण करते हुए महामहोत्सव मनाते हैं। तब सियारनी डरकर वहाँ से भाग जाती है। देवगण वहाँ उस उज्जयिनी नगरी के बाहर वन मे सुगंधित जल की वर्षा करते हैं। और पुनः-पुनः सुकुमाल महामुनि की सहनशीलता की प्रशंसा करते हुए महा उपसर्गजयी

महासाधु की जय बोलते हुये अपने-अपने स्थान पर वापस चले जाते हैं।

यह सियारनी पूर्व जन्म के संस्कार से अपने वैर का प्रतिशोध (बदला) लेकर संतुष्ट हो जाती है। परन्तु आगे के लिए पाप का कितना बड़ा पर्वत उठा लेती है, उसे कब तक ढोना पड़ेगा, इस प्रतिशोध में महामुनि के ऊपर इतना भंयकर उपसर्ग करने से मुझे कितने भवों तक नरक तिर्यंच योनियों के कितने कष्ठ उठाने पड़ेंगे, यह उसे पूर्व के भवों के दुःखों की ही कुछ याद नहीं रह गई।

(3)

कौशाम्बी के राजा अतिबल के यहाँ सोमशर्मा नाम के पुरोहित हैं। उनके अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो पुत्र हैं। ये दोनों लाड़-प्यार में विद्याध्ययन नहीं कर पाते हैं, फलस्वरूप पिता की मृत्यु के बाद दोनों पुत्रों को पिता का पद न मिलने से वे बहुत ही दुःखी होते हैं। तब माता की आज्ञा से दोनों राजगृह नगर में आकर अपने काका सूर्यमित्र के पास आ जाते हैं। सूर्यमित्र इन्हें विद्याध्ययन कराना शुरू कर देते हैं कुछ ही वर्षों में ये पूर्ण विद्वान बनकर वापस अपने देश में आ जाते हैं और राजा को प्रसन्न कर पुरोहित पद प्राप्त कर लेते हैं। कुछ दिन बाद सूर्यमित्र ब्राह्मण महामुनि सुधर्म के पास दिगम्बर मुनि हो जाते हैं।

गुरुप्रसाद से सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर परम तपस्वी होते हुए गुरु की आज्ञा से एकाकी विचरण करते हुए कौशाम्बी में

आ जाते हैं। आहार के समय अग्निभूति ब्रह्मण गुरु का पड़गाहन कर आहार दान देता है। पुनः वह मुनिराज सूर्यमित्र को नमस्कार करने के लिए बार-बार अपने छोटे भाई वायुभूति को आग्रह करता है किन्तु उसका परिणाम उल्टा ही निकलता है चूँकि वह वायुभूति जैनधर्म का विरोधी था अतः वह चिढ़कर मुनिराज की और अधिक निंदा करने लगता है तथा उन जगतपूज्य महामुनि को बहुत कुछ यद्वा-तद्वा कह डालता है। अग्निभूति अपने भाई की दुर्बुद्धि पर अत्यंत दुःखी हो जाता है मुनिराज के साथ वन की ओर चला जाता है और वहाँ पहुँचकर अपने गृहस्थाश्रम के काका तथा विद्यागुरु और वर्तमान के महामुनि सूर्यमित्र के चरण सानिध्य में बैठकर प्रार्थना करता है–

"हे भगवन्! मुझे संसार समुद्र से पार होने वाली जैनश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये।"

गुरुदेव भी अग्निभूति को मुनि बनाकर अपने साथ लेकर अन्यत्र विहार कर जाते हैं। इधर अग्निभूति की भार्या सोमदत्ता को जब पतिदेव की दीक्षा का समाचार मिलता है तब वह वायुभूति देवर से कहती है–

"हे देवर! देखो, तुमने मुनि की वंदना न कर जो उनकी निंदा की है इसीलिए तुम्हारे भाई दीक्षा लेकर चले गये हैं। अतः चलो, जैसे बने वैसे उन्हें समझा-बुझाकर वापस घर लिवा लायें।"

वायुभूति कुपित हो कहता है–

"अरी मूर्खे! मुझे तो कुछ आवश्यकता है नहीं। हाँ, तुझे यदि गर्ज है तो जा, तू भी उस नंगे के पास चली जा।"

इस प्रकार वह वायुभूति अपनी भावज को यद्वा-तद्वा सुनाकर उसकी कमर पर लात लगाकर चला जाता है। सती सोमदत्ता पति के विरह से दुःखी तो थी ही, साथ ही देवर के ऐसे मर्मछेदी वचन सुनकर और पैर से ठुकराई जाने पर अत्यंत कुपित हो उठती है और कहती है–

"अरे पापी! आज तो मैं अबला हूँ तेरे से कुछ बदला नहीं ले सकी हूँ, परन्तु याद रख! तूने इस समय जो मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातों से ठुकराया है उसका बदला इस जन्म में न सही अगले जन्म में अवश्य लूँगी और तेरे इस पाँव को, जिससे कि तूने मुझे लात मारी है उसी पैर को खाऊँगी तभी मुझे संतोष होगा।"

ऐसा निदान करके यह सोमदत्ता स्त्रीपर्याय होने से अपना मन मारकर जैसे-तैसे संक्लेश परिणमों से अपना समय व्यतीत कर रही है। इधर वायुभूति को मुनि निंद्रा के घोर पाप से सात दिन के अंदर ही महाकुष्ठ रोग हो जाता है। महावेदना से मरणकर वह कौशाम्बी में ही नट के यहाँ गधा हो जाता है। वह गधा दुःख से मरकर सुअर हो जाता है। पुनः इस पर्याय से निकलकर चम्पापुर में एक चाण्डाल के यहाँ कुत्ती हो जाता है। वह कुत्ती मरकर कुछ पाप के हल्के हो जाने से वहीं पर एक चांडाल के यहाँ कन्या हो जाती है। यहाँ वह कन्या जन्म से ही अंधी है, इसके शरीर

से महादुर्गंध निकल रही है। इसलिये इसके माता-पिता इसे छोड़ देते हैं। यह बेचारी अंधी कन्या जैसे-तैसे प्राणों की रक्षा करते हुए एक समय जंगल में जामुन फल खा रही है।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूति मुनि के साथ ही उधर से निकलते हैं। उस दुःखी कन्या को देखकर अग्निभूति मुनि के अंतर में कुछ मोहभाव सा जाग्रत होता है और करुणा से हृदय भर जाता है तब वे गुरु से कहते हैं–

"भगवन्! यह कन्या कितनी दुःखी है? ओह यह कैसे जी रही है?" गुरुदेव कहते हैं–

"हे मुनि! यह तुम्हारे भाई वायुभूति का जीव है। इसने कुछ वर्ष पूर्व धर्म से पराङ्मुख होकर जो मेरी निन्दा की थी उसी के फलस्वरूप तिर्यंच योनियों में दुःख उठाते हुए यह स्त्री-पर्याय में जन्म से अंधी हुई है। अब इसकी आयु बहुत ही थोड़ी है अतः जाकर इसे संबोधित कर धर्म ग्रहण करा दो जिससे इसका अगला भव सुधर जाये।"

गुरु की आज्ञा से अग्निभूति मुनि उस कन्या के निकट जाकर उसे संबोधित कर पाँच अणुव्रत देते हैं पुनः उसे सल्लेखना ग्रहण कराकर अपने गुरु के साथ चले जाते हैं। वह कन्या महामंत्र का स्मरण करते हुए संन्यास विधि से प्राण छोड़करय चम्पापुर में नागशर्मा ब्रह्मण के यहाँ नागश्री नाम की कन्या हो जाती है। एक बार किशोरावस्था को प्राप्त नागश्री नागपूजा करने के लिए अपनी सहेलियों के साथ वन में आती है। पुण्य योग से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि वहाँ आ जाते हैं। कन्या उन्हें देखकर अत्याधिक भक्ति ओर प्रीति से उनके

निकट आकर नमस्कार करके बैठ जाती है उसी समय अग्निभूति मुनि के हृदय में स्नेह भाव उमड़ने से वह उसका कारण अपने गुरु के पूछते हैं। आचार्य सूर्यमित्र "यह तुम्हारे भाई वायुभूति का जीव है।" ऐसा संकेत कर देते हैं। पुनः उस कन्या को धर्मोपदेश देकर सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत ग्रहण करा देते हैं। जब वह कन्या गुरु को नमस्कार कर घर जाने लगती है तब आचार्य देव कहते हैं–

'हे पुत्री! यदि तेरे पिता तेरे इन व्रतों के लेने में नाराजगी व्यक्त करें तो तू यहीं आकर मुझे इन व्रतों को वापस कर जाना।'

कन्या गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके घर आ जाती है। उसकी सहेलियाँ नागशर्मा से सारी घटना सुना देती हैं। तब नागशर्मा क्रोध में आपे से ही बाहर हो कन्या से कहता है–

'बेटी! तूने क्या किया? अपने घराने में नंगे गुरुओं को नहीं पूजा जाता और फिर तूने उनके दिए हुए व्रत क्यों ले लिए?'

नागश्री कहती है–

'पिताजी! गुरुजी ने कहा है कि यदि तुम्हारे पिताजी को ये व्रत अच्छे नहीं लगें तो हमें ये व्रत वापस दे जाना।'

तब नागशर्मा कन्या को साथ लेकर वन की ओर चल पड़ता है। मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के पाप से दण्डित होते हुए लोगों को क्रम-क्रम से देखकर कन्या अपने पिता से यह कहलवा लेती है कि 'ये व्रत बहुत ही अच्छे हैं उन्हें वापस नहीं करना है फिर भी चलो, चलकर

मुनि को फटकारेंगे अवश्य, कि उन्होंने बिना पूछे किसी की कन्या को व्रत क्यों दिये?'

निकट में पहुँचकर नागशर्मा जोर से चिल्लाकर कहता है–

'अरे नंगो! तुमने मेरे से बिना पूछे मेरी कन्या को ये व्रत क्यों दिये हैं?'

आचार्यदेव बहुत ही शांति से कहते है–

'हे ब्राह्मण! इस कन्या को मैंने मेरी समझकर ही व्रत दिये हैं, यह कन्या मेरी है।'

तब ब्राह्मण और भी चिढ़कर बोलता है–

'वाह! यह कन्या आपकी कैसे है?'

तब मुनिराज कहते हैं–

'हे पुत्री! आ तू मेरे पास बैठ जा,' पुनः ब्राह्मण से कहते हैं–

'यह कन्या मेरी ही है।'

बेचारा नागशर्मा घबड़ा कर राजा के पास दौड़ता जाता है और राजा से कहता है–

'हे महाराज! मेरा न्याय कीजिए, मेरा न्याय कीजिए, इन नंगे साधुओं ने मेरे साथ घोर अन्याय किया है। अरे-अरे! यह मेरी कन्या को लेकर जा रहे हैं।'

इस हल्ला-गुल्ला को सुनकर राजा बहुत ही कुतूहल के साथ अपने सामंत-मंत्री को लेकर वहाँ आ जाते हैं और मुनिराज को नमस्कार कर पूछते हैं–

'भगवन्! आप दिगम्बर साधु हैं, पुनः यह कन्या आपकी कैसे? कृपा करके आप हम लोगों की जिज्ञासा को शांत कीजिए।'

आचार्य सूर्यमित्र नागश्री कन्या के मस्तक पर अपनी पिच्छिका रखकर कहते हैं–'हे वायुभूते! मैंने तुम्हें जो कुछ भी विद्याध्ययन कराया था, वह सब आप इन लोगों को सन्मुख सुनाओ।'

उसी क्षण कन्या को अपने वायुभूति के भव का पूर्णतया जातिस्मरण हो जाता है वह तत्क्षण ही संस्कृत व्याकरण, वेद, वेदांग आदि पढ़ाये गये सूत्रों का उच्चारण करने लगती हैं राजा तथा प्रजा के लोग सभी आश्चर्य चकित हो जाते हैं। पुनःगुरु से पूछते हैं–

'भगवन्! आपने यह सब ग्रंथ इसे कब पढ़ाये हैं?

तब सूर्यमित्र महामुनि सभी के समक्ष उस कन्या का वायुभूति से लेकर अब तक का सारा इतिहास सुना देते हैं। सुनकर सभी लोगों को बहुत ही वैराग्य और धर्मप्रेम हो जाता है। राजा स्वयं पूर्णतया विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते हैं। नागशर्मा भी मुनि हो जाता है। पुनः वह नागश्री कन्या आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर घोरातिघोर तपस्या करके अंत में समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो जाता है। वहाँ के दिव्य भोगों को भोगकर, धर्मप्रीति के प्रसाद से वही देव यहाँ उज्जयिनी में सुकुमाल सेठ हो जाता है। वायुभूति की पर्याय में जो उनकी भावज थी, जिसने

पति की दीक्षा के बाद देवर की फटकार व लात खाई थी पुनः जिसने उसका बदला चुकाने का निदान किया था, वही बेचारी सोमदत्ता निदान के दुष्परिणाम से कई भवों तक दुर्गति के दुःख उठाती हुई अब इस पर्याय में सियारनी हो गई थी। उसी ने पूर्व भव में बाँधे गए बैर से सुकुमाल मुनि के ऊपर घोर उपसर्ग किया है और उनके पैर को ही खाया है। तथा पुनरपि अपने संसार की परंपरा को बढ़ाया है।

महामुनि सुकुमाल ने पूर्णतया क्षमा का अवलंबन ले समता भाव से उपसर्ग को सहन किया है। उसके फलस्वरूप वे अच्युत स्वर्ग में महान ऋद्धि संपन्न देव हो चुके हैं।

इस कथा को पढ़कर प्रत्येक मनुष्य को यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि कभी भी किसी के प्रति बैर बाँधना या बदला लेने की भावना करना बहुत ही बुरा है। तथा सुकुमाल जैसे भी महासुकुमार देहधारी मनुष्य यदि अपने मन को मोड़ दे देते हैं तो कठिन से कठिन तपश्चर्या उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

रक्षा बंधन

(1)

दिगम्बर गुरु श्री अकंपन आचार्य महाराज शहर और ग्रामों में विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी के उद्यान में जाकर ठहर जाते हैं। उनके साथ सात सौ मुनियों का विशाल संघ है। इतने बड़े संघ के अधिनायक आचार्य अपने निमित्तज्ञान से इस बात को जान लेते हैं कि यहाँ पर संघ के लिए कुछ अनिष्ट की संभावना है। तत्काल ही अपने सारे संघ को बुलाकर आदेश देते हैं–

"हे मुनियो! यहाँ पर राजा, मंत्री या कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा सामान्य प्रजा के लोग कोई भी दर्शनार्थ क्यों न आवें, आप कोई भी मुनि न तो उनके साथ कुछ वार्तालाप ही करना और न कुछ धर्म चर्चा ही। सभी मुनि मौन लेकर अपने आत्मतत्त्व का चिंतवन करो। यह मेरी आज्ञा है।" सभी साधु बिना कुछ पूछे-ताछे ही गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर लेते हैं और प्रातः श्रावकों के दर्शन के समय सब मौन लेकर ध्यान में बैठ जाते हैं। प्रातःकाल शहर में मुनिसंघ के आने का समाचार पहुँचते ही सभी श्रावक हाथ में पूजा द्रव्य लेकर अपने-अपने घर से चल पड़ते हैं और उद्यान में पहुँचकर जय-जयकार करते हुए गुरुओं की वंदना करते हैं। कोई स्तोत्र पाठ करते हैं तो कोई अष्ट द्रव्य से गुरुओं के चरणकमलों की पूजा करते हैं।

प्रातःकाल की मधुर बेला में उज्जयिनी के शासक राजा श्रीवर्मा अपने महल की छत पर बैठे हुए हैं और उनके पास में ही उनके चारों मंत्री बैठे हैं। उनके नाम हैं–बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि। ये मंत्री राजनीति में निपुण होते हुए भी धर्म के कट्टर शत्रु हैं और दिगम्बर मुनियों के प्रति बहुत ही द्वेष करने वाले हैं। राजा श्रीवर्मा जब महल से नीचे राजपथ पर दृष्टि डालते हैं तब देखते हैं कि बहुत से लोग हाथ में पूजन सामग्री लिए हुए उद्यान की ओर जा रहे हैं। वे कुतूहलवश मंत्रियों से पूछते हैं–

"हे मंत्रियों! आज ये सब लोग पूजन सामग्री हाथ में लिए हुए कहाँ जा रहे हैं?"

मंत्री कहते हैं–

"राजन्! अभी यहाँ आते हुए हमने सुना है कि अपने शहर के बगीचे में नित्य ही नंगे रहने वाले साधु आए हुए हैं। ये सब लोग उन्हीं के दर्शन करने जा रहे हैं।"

राजा प्रसन्न होकर कहते हैं–

"मंत्रियों! हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिए। वे महापुरुष होंगे।"

मंत्री कहते हैं–

"राजन्! ये नंगे साधु कुछ नहीं रखते हैं, मूर्ख होते हैं। इनके दर्शन से कुछ भी फल नहीं मिलता है।"

राजा मंद-मंद मुस्कराते हुए कहते हैं–

"मंत्रीगण! जो भी हो, हमें उनके दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा हो रही है। अतः हम तो दर्शन करने जायेंगे ही।"

तब चारों मंत्री भी राजा के साथ-साथ चल पड़ते हैं। वहाँ पहुँच कर राजा मुनियों को देखकर दूर से ही अपने वाहन से उतरकर पैदल चलकर उनके निकट पहुँच कर बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं। पुनः क्रम-क्रम से एक-एक मुनि को नमस्कार करते चले जाते हैं। परन्तु उस समय कोई भी मुनि न तो हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद देते हैं और न दृष्टि उठाकर उनकी ओर देखते हैं। गुरु की आज्ञानुसार सब ध्यानमुद्रा में स्थित हैं। आशीर्वाद के न मिलने से भी राजा उन वीतरागी निर्ग्रंथ गुरुओं का दर्शन करके अपने जीवन को धन्य समझ रहे हैं, किन्तु बीच-बीच में वे मंत्री बोलते ही जा रहे हैं।

"देखिए राजन्! मैंने आपको पहले ही कहा था कि ये नंगे साधु कुछ बोलना नहीं जानते हैं, अतः अपनी पोल न खुल जाए इसीलिए ये सब ध्यान का ढोंग लेकर बैठ गए हैं।"

राजा मंत्रियों की बात को सुनी-अनसुनी करके भक्तिपूर्वक पुनः सबको नमस्कार करते हैं और पुनः वापस अपने महल की ओर चले आ रहे हैं। मंत्रीगण परस्पर में यही चर्चा करते आ रहे हैं कि–

"देखो! ये बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते हैं सब निरे मूर्ख हैं।"

"यही तो कारण है कि सब मौनी बने बैठे हुए हैं।"

"इन्हें देखकर बेचारे साधारण लोग तो यही समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान में निमग्न हैं।"

"ओह! कितना बड़ा कपटजाल रच रखा है इन ढोंगी साधुओं ने?"

"देखो तो सही, ये भोली समाज को धोखा देने में कितने कुशल हैं।"

"सचमुच में ये बड़े दांभिक हैं।"

इस प्रकार त्रैलोक्य पूज्य, परम शांत उन वीतरागी मुनियों की निंदा करते हुए ये धर्मद्रोही राजा के साथ वापस लौट रहे हैं कि मध्य में ही इन्हें सामने से आते हुए एक मुनि दृष्टिगोचर हो जाते हैं। तब वे चारों ही मंत्री उनकी हँसी करते हुए कहते हैं–

"महाराज! देखिये, यह एक बैल पेट भरकर चला आ रहा।"

इतना सुनते ही वे मुनिराज समझ जाते हैं कि ये मंत्री वाद-विवाद करने के इच्छुक हैं। उसी समय मुनिराज वहाँ पर कुछ रुक जाते हैं और पूछ लेते हैं–

"कहो! बैल का लक्षण क्या है?"

इतना प्रश्न आते ही वे चारों अभिमानी मुनि के साथ शास्त्रार्थ करना शुरू कर देते हैं। वे मुनिराज बहुत ही बड़े ज्ञानी हैं। श्रुतसागर उनका नाम है। यथानाम तथागुण के अनुसार वे लीलामात्र में ही उन चारों मंत्रियों को पराजित कर निरुत्तर कर देते हैं, तब वे बेचारे झेंप जाते हैं और राजा प्रसन्नचित्त हो मुनिराज को पुनः-पुनः नमस्कार करके उनके वाक्चातुर्य व समीचीन ज्ञान की प्रशंसा करते हुए अपने महल वापस आ जाते हैं।

उधर मुनिराज श्रतुसागर आचार्यदेव के चरण सानिध्य में पहुँचकर वंदना करके गोचरी प्रतिक्रमण करते हैं पुनः

प्रत्याख्यान ग्रहण कर गुरु के पादमूल में बैठकर विनयपूर्वक मार्ग में राजा के साथ मंत्रियों से हुई शास्त्रार्थ की सारी बातों को सुना देते हैं। सुनकर गुरुदेव कहते हैं–

"ओह! बहुत ही बुरा हुआ, तुमने अपने हाथों से सारे ही संघ का घात कर लिया, संघ की अब कुशल नहीं है।'

श्रुतसागर मुनि घबड़ाकर हाथ जोड़कर पूछते हैं–

"गुरुदेव! सौ कैसे?"

आचार्य श्री कहते हैं–

"मैंने जब प्रातः सभी मुनियों को किसी से न बोलने का आदेश दिया था तब तुम उपस्थित नहीं थे सो तुम्हें मालूम नहीं था अतः तुमने इस धर्मद्रोही राजमंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ कर लिया है तो अच्छा नहीं हुआ है।"

श्रुतसागर जी पूछते हैं–

"गुरुदेव! मेरे से अनजाने में बहुत बड़ा अपराध हो गया है अब संघ पर कोई विपत्ति न आ जाए उसके पहले ही आप हमें उचित प्रायश्चित दे दीजिए।"

आचार्यदेव कहते हैं–

"हे मुनि! यदि तुम सर्वसंघ की कुशलता चाहते हो तो वापस पीछे जाओ जहाँ पर मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ किया है तुम अकेले उसी स्थान पर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान में स्थित हो जाओ।"

आचार्यदेव की आज्ञा पाकर श्रुतसागर तत्क्षण ही गुरु के पादमूल की वंदना कर वहाँ से वापस आकर उसी स्थान पर ध्यान मग्न हो खड़े हो जाते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि–

'सचमुच में–

शिष्यास्तेऽत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वंति गरुोर्वचः।
प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत्।।

शिष्य वे ही प्रशंसा के पात्र हैं जो विनयपूर्वक बड़े प्रेम से गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं। इसके विपरीत जो शिष्य होते हैं वे कुपुत्र के समान निंदा के पात्र हैं।'

(2)

राजा के समाने एक नंगे साधु से शास्त्रार्थ में पराजित होकर वे चारों मंत्री बहुत ही लज्जित हुए अपने घर आ जाते हैं और अपने मान भंग का बदला चुकाने के लिए एक साथ बैठकर मंत्रणा करना शुरू कर देते हैं। मंत्रणा करके मुनियों का वध करने का निर्णय लेकर वे चारों ही रात्रि के समय हाथ में नंगी तलवार लेकर शहर से बाहर आ जाते हैं और मुनिसंघ के उद्यान की ओर चल पड़ते हैं। मार्ग में ही वे एक मुनि को ध्यान में खड़े देखकर निकट जाकर पहचानते हैं। पुनः कहते हैं–

'अहो! यह वही दुष्ट है जिसने हमें शास्त्रार्थ में हराया है। पहले इसी का काम तमाम करो फिर आगे बढ़ो।'

'हाँ, हाँ, सच में दोषी तो यही है और सब बेचारे तो कुछ बोले भी नहीं थे।''

'बस क्या देखते हो? एक साथ तलवार का वार करके इसकी गर्दन उड़ा दो।'

इतना कहते ही वे चारों क्रूरकर्मा क्रोध से भरपूर हो

एक साथ तलवार उठाकर गर्दन पर चलाना चाहते हैं कि मध्य में ही नगर देवता का आसन कंपते ही उसी समय वह आकर उन चारों को वैसे ही तलवार उठाये मुद्रा में उसी जगह कील देते हैं। वे चारों उस क्रूरमुद्रा में जैसे के तैसे वहीं पर खड़े रह जाते हैं, किंचित् मात्र भी टस से मस नहीं हो पाते हैं। अब वे मन ही मन सोचने लगते हैं–

'ओह! यह क्या हुआ? अब प्रातः क्या होगा?.....

प्रातःकाल होते ही बिजली की तरह यह खबर सारे शहर में फैल जाती है। तभी सारा शहर यह कुतूहलपूर्ण दृश्य देखने के लिए उमड़ पड़ता है। सभी लोग एक स्वर में मंत्रियों को धिक्कारते हुए कहते हैं–

'अरे, रे! इन पापियों को धिक्कार हो, धिक्कार हो! अरे जब साधारण क्षुद प्राणी की हिंसा करना भी महापाप है, तो भला इन जगत्पूज्य महासाधुओं की हिंसा करना महापाप क्यों नहीं होगा? तभी तो देवों ने इन्हें कील दिया है।'

'अच्छा ही हुआ, तभी तो लोग पाप से डरेंगे। पाप का फल परलोक में तो दुःख देता ही है, इसलोक में भी दुःख, अपयश और अपमान को कराने वाला है।'

'आहे! इन दुष्टों ने जैसा किया उसका फल इन्हें लगे हाथ मिल गया।'

इसी बीच महाराजा श्रीवर्मा भी अपनी रानी श्रीमती के साथ वहाँ पर आ जाते हैं जहाँ पर इतनी भीड़ इकट्ठी हुई है। राजा ऐसा दृश्य देखकर बहुत ही खेद के साथ कहते हैं–

'अरे पापियों! तुमने संसार के महाउपकारी और निर्दोष

ऐसे महामुनियों के साथ यह क्या किया? अरे! पहले ही तुमने उनकी निंदा कर हमें उनके दर्शनों से रोकना चाहा, पुनः वहाँ पहुँच कर उन पर तपस्वी साधुओं की हँसी की, निंदा की। इतने पर भी संतोष नहीं हुआ तो मार्ग में आते हुए मुनि की अवहेलना कर उनके साथ शास्त्रार्थ किया। इसके पश्चात् तो तुम उनके विशाल ज्ञान को समझ चुके थे, फिर भी तुम लोगों ने उनको मारने का यह षड्यंत्र क्यों बनाया?.....

तभी पुरदेवता उन्हें छोड़ देता हैं और गुरु श्रुतसागर के चरणों की बहुत ही भक्ति से पूजा करते हैं। तब राजा उन मस्तक नीचा किए हुए मंत्रियों से पुनः कहते हैं–

'अरे दुष्टों!तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है। तुम्हें इस मुनि हत्या के महापाप का दण्ड तो मुझ राजा को देना ही चाहिए। तुम्हारे लिए उपयुक्त दण्ड तो यही है कि जैसा तुम करना चाहते थे वही तुम्हारे लिए किया जावे।..... फिर भी पापियों! तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियाँ मेरे यहाँ मंत्रीपद पर प्रतिष्ठा पा चुकी है इसीलिए मैं तुम्हें प्राणों का अभय दे रहा हूँ।'

पुनः राजा अपने कर्मचारियों से कहते हैं–

'कर्मचारियों! तुम इन चारों को ले जाकर गधे पर बिठाकर इन्हें अपने देश की सीमा से बाहर निकाल दो।'

उसी समय राजाज्ञा का पालन किया जाता है। सारे शहर के लोग उधर उन मंत्रियों की निंदा कर रहे हैं। और इधर महामुनि श्रुतसागर के तपश्चरण के पुण्य-प्रभाव की प्रशंसा कर रहे हैं। मुनि के साथ-साथ आचार्यदेव श्री

अकंपनाचार्य के चरण सानिध्य में पहुँचकर जयकारों की ध्वनि से आकाश को मुखरित कर रहे हैं। आचार्यदेव भी इस प्रकार से आने वाली संघ की आपत्ति टल जाने से संतुष्ट दिख रहे हैं और संघ के सभी साधु गुरु के अनुशासन का प्रत्यक्ष सुखद अनुभव प्राप्त कर गुरु के अनुशास्य शिष्य होने से अपने आपको गौरवान्वित कर रहे हैं।

(3)

हस्तिनापुर के राजा महापद्म अपने बड़े पुत्र पद्म को राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार के युवराज पद के भार ग्रहण करने हेतु समझा रहे हैं किन्तु विष्णुकुमार कहते हैं–

"पूज्य पिताजी! जिस राज्य और सांसारिक वैभव को छोड़कर आप दीक्षा लेना चाहते हैं वह राज्य व वैभव हमारे लिए भी हितकर कैसे हो सकता है? अतः निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिए मैं भी आपके साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

तब दोनों ही पिता-पुत्र वन में जाकर महामुनि श्रुतसागरसूरि के चरण सानिध्य में पहुँचते हैं और उनके कर कमलों से जैनेश्वरी दीक्षा लेकर घोरातिघोर तपश्चरण करना शुरू कर देते हैं। इधर पद्म महाराज राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो प्रजा का पुत्रवत् पालन कर रहे हैं। उज्जयिनी से निकाले जाने पर वे बलि आदि चारों मंत्री यहाँ आकर वाक् चतुराई से राजा के यहाँ मंत्री पद को प्राप्त कर लेते हैं। किसी समय राजा को चिंतित देख उसका कारण ज्ञातकर

राजा से निवेदन करते हैं–

"राजन्! यह सिंहबल राजा किस अभिमान में हैं? भला जो आपके राज्यशासन में आतंक मचा रहा है और आपके वश में न होकर आपको चिन्तित रखा है। आप हमें आज्ञा दीजिए, हम उसे जीवित ही पकड़कर आपके सामने उपस्थित कर देंगे।"

राजा उनकी बातों से प्रसन्न हो उनके साथ बहुत सी सेना दे देते हैं। वे चारों मंत्री कुम्भपुर नगर पर चढ़ाई कर अपने बुद्धिबल से सिंहबल को जीवित ही पकड़कर बाँधकर हस्तिनापुर लाकर राजा पद्म के सामने खड़ा कर देते हैं। राजा पद्म इन मंत्रियों की इस कार्य कुशलता से प्रसन्न हो उन्हें वर माँगने को कहते हैं तब मंत्रीगण निवेदन करते हैं।

"महाराज! अभी हमारा वर आप धरोहर रूप में अपने पास ही रहने दीजिए, आवश्यकतानुसार हम ले लेंगे।"

इसी समय अकंपनाचार्य महामुनि अपने सात सौ मुनियों के साथ विहार करते हुए यहाँ आकर हस्तिनापुर के बाहर उद्यान में ठहर जाते हैं और वर्षायोग का समय ज्ञातकर वर्षायोग नियम ग्रहण कर लेते हैं। श्रावक लोग संघ की उपासना के लिए प्रतिदिन उनकी वंदना, पूजा, भक्ति करना शुरू कर देते हैं।

"श्री अकंपनाचार्य महामुनि संघ सहित यहाँ आये हैं" यह समाचार मंत्रियों को मिलते ही उन्हें अपने अपमान की बात याद आ जाती है। उन चारों का हृदय प्रतिहिंसा की भावना से उद्विग्न हो उठता है। वे चारों एकांत में बैठकर

परस्पर में विचार करते हैं–

"अहो! यही समय उपयुक्त है इनसे बदला चुकाने का, इन्हीं दुष्टों के द्वारा अपने को कितना दुःख उठाना पड़ा है? सभी लोगों के बीच में हमें धिक्कारा गया है और उज्जयिनी से अपमानित होकर देश निकाले का दण्ड दिया है। देखो, राजा पद्म इनके परम भक्त हैं, वे अपने शासन में इनका अहित कैसे होने देंगे?"

तब बली मंत्री कहता है–

"सुनो, हम लोगों ने सिंहबल को जीत लेने पर राजा से जो वर प्राप्त किया था, वह राजा के पास सुरक्षित है। इन मुनियों का काम तमाम करने के लिए हमें राजा से सात दिन का राज्य प्राप्त कर लेना चाहिए।"

तीनों मंत्री प्रसन्न होकर बलि के बुद्धि चातुर्य की सराहना करते हैं और कहते हैं–

"ठीक ठीक, बहुत ठीक, फिर तो जैसा हम करेंगे वैसा ही होगा। राजा के हाथ में कुछ भी अधिकार नहीं रह जायेगा।"

ये मंत्री उसी समय राजा के पास पहुँच कर निवेदन करते हैं–

"हे राजन्! जो आप हमें वर देना चाहते थे, सो आज हमें आवश्यकता है।"

राजा कहते हैं–

"कहो, आप लोगों को क्या चाहिए? मैं वचनबद्ध हूँ, आप जो माँगोगे सो मैं देने को तैयार हूँ।"

तब बलि कहता है–

"महाराज! हमें सात दिन के लिए अपना राज्य प्रदान कीजिए।"

राजा पद्म ऐसा सुनते ही अवाक् रह जाते हैं उनके मन में कुछ अनर्थ की आशंका हो जाती है किन्तु अब वे कर ही क्या सकते थे? वे वचनबद्ध थे अतः उन्हें राज्य देना ही पड़ा। राजा उन मंत्रियों को राज्य सौंपकर स्वयं सात दिन के लिए अपने घर पर आकर निवास कर रहे थे। इधर ये दुष्ट मंत्री राज्य पाकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं और एकांत में परामर्श कर मुनियों के मारने के लिए महायज्ञ का बहाना बनाकर षड्यंत रचते हैं जिससे कि सर्व साधारण लोग कुछ न समझ सकें।

उस समय वे मंत्री मुनियों को बीच में रखकर उनके चारों तरफ एक बहुत बड़ा मंडप तैयार कराते हैं। उनके चारों तरफ लकड़ियों को ढेर इकट्ठा करवा देते हैं, बकरी भेड़ें आदि हजारों पशु वहीं बाड़ा बनवाकर बंधवा देते हैं। और यह घोषणा करा देते हैं कि देश तथा राज्य की शांति के लिए 'पशुमेघ' यज्ञ प्रारंभ किया है। तमाम वेद-वेदांग पारंगत विद्वान यज्ञ कराने के लिए वहाँ आकर ठहर जाते हैं। और वेद ध्वनि से यज्ञ मण्डप को गुंजायमान कर देते हैं। बेचारे निरपराध पशुओं को निर्दयतापूर्वक मारा जा रहा है। मंत्रोच्चारणपूर्वक पशुओं की आहुतियाँ दी जा रही हैं। देखते-देखते दुर्गंधित धुएं से सारा आकाश परिपूर्ण हो जाता है।

श्री अकंपनाचार्य महाराज और सभी सात सौ मुनिगण इस दुर्घटना को देखकर अपने ऊपर उपसर्ग समझ लेते हैं। तब वे सब महामुनि अपने संयम की रक्षा हेतु आगम विधि

के अनुसार सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात्–

"यदि मैं इस उपसर्ग से जीवित बचूँगा तो पुनः अन्न जल ग्रहण करूँगा, अन्यथा-इस उपसर्ग के न हटने तक मेरे चारों प्रकार के आहार का त्याग है।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना नियम सल्लेखना है तथा बचने की संभावना न होने पर जीवन भर के लिए चतुराहार त्याग करना यम सल्लेखना है।

उपर्युक्त प्रकार से नियम सल्लेखना लेकर सभी साधु शरीर से निर्मम होते हुए बारह भावनाओं के चिंतन में तल्लीन हो जाते हैं। चारों तरफ से अग्नि की लपट ओर पशुओं की आहुति से उत्पन्न होने वाले दुर्गंधित धुयें से सभी मुनियों के शरीर में तथा कण्ठ में घोर वेदना हो रही है। दिगम्बर मुनियों की चर्या ऐसी ही है, कि ऐसे उपसर्ग के समय न वे उठकर कहीं अन्यत्र गमन कर सकते हैं, न कुछ प्रतीकार ही कर सकते हैं वे तो मात्र आगम की आज्ञा के अनुसार ऐसे कष्टों को उपसर्ग समझ कर सहन करते हुए सल्लेखना की ही शरण ले लेते हैं। और शत्रुओं पर क्रोध, कषाय न करते हुए पूर्ण क्षमा धारण करते हैं। आज भी दिगम्बर जैन मुनि किसी भी प्रकार के पर के द्वारा किये गए असि प्रहार आदि उपसर्गों के आ जाने पर क्षमा भाव से सहन करते हुए देखे जाते हैं।

वे सभी मुनि विचार कर रहे हैं–

"अहा! जब पाँच सौ मुनियों की घानी में पेल दिया गया था अब उन्हें कैसी वेदना हुई होगी? यह अग्निकाण्ड के द्वारा होने वाले उपसर्ग शरीर को ही नष्ट करेगा मेरी आत्मा

को नहीं, क्योंकि आत्मा तो अजर-अमर है, अविनाशी है।

मेरी आत्मा को मृत्यु नहीं है तो भय किसका? मेरी आत्मा को व्याधि नहीं है तो पीड़ा किसको? न मैं बालक हूँ, न युवा हूँ, न वृद्ध हूँ, ये तो पुद्गल की पर्यायें हैं।''

इस प्रकार से आध्यात्मिक भावना को भाते हुए वे सभी मुनि पर्वत के समान अकंप होकर निश्चल शरीर करके तिष्ठे हुए हैं। जब अधिक वेदना का अनुभव होने लगता है तब वे मुनि अपनी आत्मा को संबोधन करते हैं–

''हे आत्मन्! जब कभी तू नरक में गया है तो कैसी वेदनाएँ भोगी हैं? उनका स्मरण कर। अरे! वहाँ करोंत से चीरा जाना, कुम्भीपाक में पकाया जाना, तिल-तिल बराबर टुकड़े किए जाना, मुद्गरों से पीटे आदि भंयकर कष्ट भोगे हैं। पशुयोनि में भी बलि और अग्नि आहुति कितने कष्ट भोगे हैं? छेदन-भेदन, मारने, पीटने, हिंसकों, व्याधों द्वारा मारे जाने वाले काटे जाने, शस्त्रों से छिन्न-भिन्न किये जाने आदि के कितने कष्ट भोंगे हैं? मनुष्योनि में भी गर्भवास में नव महीने रहने के कितने कष्ट भोगे हैं? यदि अब संसार के दुःखों से छुटकारा पाना है तो इस उपसर्ग को शांतिपूर्वक सहन करो। जिससे पुनःपुनः संसार में जन्म न लेना पड़े।'

इत्यादि प्रकार से ये मुनि उपसर्ग सहन कर रहे हैं। इधर जब हस्तिनापुर नगरी के श्रावक-श्राविकाएँ मुनियों के ऊपर ऐसा उपसर्ग देखते हैं, तो दहल उठते हैं। हा-हा कार करने लगते हैं। परन्तु अब वे लोग कर ही क्या सकते हैं? दुःखी प्रजा राजा की शरण में जाती है किन्तु जब राज्यगद्दी

पर आसीन होकर राजा ही ऐसा अनर्थ कर रहा है तब बेचारी प्रज्ञा किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गई है। बहुत से श्रावक मुनियों के इस भयंकर उपसर्ग के दूर होने तक के लिए कुछ न कुछ वस्तु का त्याग कर बैठ गये हैं। कुछ श्रावक उपसर्ग निवारण हेतु उपायों को सोच-सोच कर पुनः कुछ मार्ग न देखकर आँखों से अश्रु गिरा रहे हैं।

इधर बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चारों दुष्टात्मा राज्य को प्राप्त कर फूले नहीं समा रहे हैं और मुनियों को मारने के लिए यज्ञ विधि का आयोजन करके किमिच्छक दान बाँट रहे हैं। राजा पद्म का कोश खोल दिया है और सारे शहर में घोषणा कर दी है कि–

'महायज्ञ के अवसर पर सभी को मुँह माँगे सुवर्ण, धन और रत्न आदि दिये जा रहे हैं। जिसको जो चाहिए सो माँग लो, और कई पीढ़ियों तक के लिए दरिद्रता को समाप्त कर दो।' धन के लोभी, दरिद्री और अनाथ लोग ऐसी दान की घोषणा सुनकर चारों तरफ से चले आ रहे हैं और मन चाहे धन, सुवर्ण, रत्न आदि प्राप्त कर खुशियाँ मना रहे हैं। भला उन बेचारों को मुनियों के इस अग्नि उपसर्ग के कष्ट की क्या कल्पना?

मानो इस मुनि उपसर्ग को न देख सकने के ही कारण सूर्यदेव अस्ताचल को प्राप्त हो गये हैं। हस्तिनापुर निवासी सज्जन लोग चिंतातुर हो सोच रहे हैं–

''अहो! मनुष्यों के हाथ से राज्य क्रूर राक्षसों के हाथ में चला गया है अब क्या होगा? त्रिभुवन पूज्य इन गुरुओं

की रक्षा कैसे होगी? हे नाथ! हे जिनेन्द्रदेव! हे भगवन्! इस भयंकर स्थिति में अब इन महामुनियों के लिए आप ही शरण हैं। हे भगवन्! रक्षा करो, रक्षा करो।''

चारों तरफ से ऐसी आवाज उठ रही है–

(4)

मिथिला नगरी के बाहर उद्यान में श्री श्रुतसागरमुनि रात्रि के समय ध्यान में स्थित हैं। अर्धरात्रि के अनंतर वे ध्यान को विसर्जित कर आकाश की ओर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं 'श्रावण नक्षत्र कंपायमान हो रहा है' नक्षत्र कंपते हुए देखकर अपने निमित्तज्ञान से विचारते हैं और सहसा मुख से बोल पड़ते हैं–

'हाय! हाय!!''

पास में ही पुष्पदंत नाम के क्षुल्लक जी बैठे हुए थे, वे गुरु के मुख से सहसा 'हाय, हाय,' शब्द सुनकर घबराकर पूछते हैं–

'भगवन्! क्या हुआ, क्या हुआ!!'

श्रुतसागरसूरि कहते हैं–

'मुनियों पर बहुत बड़ा उपसर्ग हो रहा है।'

क्षुल्लकजी पूछते हैं–

'प्रभो! यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है?'

सूरि कहते हैं–

'हस्तिानापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उस संघ के नायक श्री अकंपनाचार्य महामुनि हैं। उस सारे संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।'

क्षुल्लकजी पूछते हैं–

''प्रभो! ऐसा क्या उपाय है कि जिससे यह उपसर्ग दूर हो?''

सूरि कहते हैं–

''हाँ, एक उपाय है। श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रियासिद्धि प्राप्त हो गई है। वे अपनी ऋद्धि के बल से इस उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं।''

क्षुल्लक पुनः पूछते हैं–

''भगवन्! वे मुनि इस समय कहां पर विराजमान हैं?''

सूरि कहते हैं–

''वे उज्जयिनी नगरी के बाहर एक गुफा में स्थित हैं।''

तब पुनः क्षुल्लक विनय से प्रार्थना करते हैं–

''प्रभो! मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।''

गुरु की आज्ञा पाकर पुष्पदंत क्षुल्लक तत्क्षण ही अपनी आकाशगामी विद्या के बल से मुनि विष्णुकुमार के चरण सानिध्य में पहुँचकर नमोऽस्तु करते हैं और श्री श्रुतसागर सूरि द्वारा कथित समाचार सुना देते हैं। तब विष्णुकुमार मुनि आश्चर्य से सोचते हैं–

'अहो! क्या मुझे विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो चुकी है?'

इतना सोचकर तत्क्षण ही परीक्षा के लिए अपना हाथ पसारते हैं तो वह हाथ गुफा के बाहर निकलकर अनेक पर्वत आदि को भेदन करता हुआ बहुत दूर तक चला जाता है। विष्णुकुमार मुनि उसी क्ष्ण विक्रियाऋद्धि के बल से आकाश मार्ग से वहाँ से चलकर शीघ्र ही हस्तिानापुर आ जाते हैं और अपने बड़े भाई राजा पद्म के राजमहल में पहुँच जाते हैं।

मुनि विष्णुकुमार को आते हुए देखकर सहसा राजा पद्म उठकर सामने बढ़कर साष्टांग नमस्कार करते हैं पुनः उच्च आसन पर विराजमान करते हैं। विष्णुकुमार मुनि कहते हैं–

'हे भाई! तुम किस नींद में सो रहे हो? क्या तुम्हें पता है कि शहर में कितना भारी अनर्थ हो रहा है? अरे! अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले अपने कुल में किसी ने आज तक ऐसा मुनि घातक घोर पाप किया है? हाय! हाय!! धर्म के अवतार परमशांत ऐसे इन मुनियों पर ऐसा अत्याचार? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में? बड़े खेद की बात है, भाई! राजाओं का धर्म तो यही है कि सज्जनों की, धर्मात्माओं की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना, पर तुमने तो इससे बिल्कुल उल्टा कर रक्खा है। समझते हो, साधुओं को सताना ठीक नहीं। देखो! जल का स्वभाव ठंडा है फिर भी वह जब अति गरम हो जाता है तब शरीर को जला देता है। इसलिए जब तक कोई आपत्ति तुम पर न आ जावे, उसके पहले ही इस उपसर्ग की शांति करवा दीजिए।'

अपने पूज्य भ्राता श्री विष्णुकुमार मुनि का आदेश सुनकर राजा पद्म हाथ जोड़कर कहते हैं–

(5)

'भगवन्! मैं क्या करूँ? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे? अब तो मैं बिल्कुल विवश हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता। क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ, सात दिन तक के लिए अपना राज्य दे चुका हूँ।

हे महामुने! अब तो आप ही इस कार्य में समर्थ हैं।

आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिए। इसमें आपके लिए मेरा कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। अब आप शीघ्र ही कुछ उपाय कीजिए।'

इतना सुनकर विष्णुकुमार मुनि विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से बामन का अवतार ऐसा ब्राह्मण का वेष बनाते हैं। कंधे पर जनेऊ लटका कर बगल में वेदशास्त्रों को दबाकर बड़ी मधुरता से वेद की ऋचाओं का उच्चारण करते हुए वहाँ यज्ञ मंडप में पहुँच जाते हैं। यज्ञ के सभा मंडप में वामन ब्राह्मण को आते हुए देख बलि आदि मंत्री आगे बढ़कर उनका सम्मान करते हुए बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं। बलि राजा (मंत्री) तो उन पर इतना प्रसन्न हो जाता है कि वह आनंद विभोर हो जाता है। पुनः गद्गद वाणी में कहता है–

'महाराज! आपने यहाँ पधार कर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी है, मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। अतः आपकी जो इच्छा हो, सो माँगिए। इस समय मैं सब कुछ देने में समर्थ हूँ।'

वामन विष्णु कहते हैं–

'मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी स्थिति में ही संतोष है। मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं है। पर आपका जब इतना आग्रह है, तो मैं आपको असंतुष्ट करना भी नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पैर-पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप उतनी भूमि मुझे दे देंगे तो मैं उसी में अपनी झोंपड़ी बनाकर रह जाऊँगा और निराकुलता से वेदाध्ययन आदि करता रहूँगा। बस, इसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिए।'

उस वामन की यह तुच्छ याचना सुनकर पास में खड़े हुए

अन्य लोग आश्चर्य करने लगते हैं। कुछ लोग हँस पड़ते हैं और कुछ लोग खेद व्यक्त करते हैं। पुनः कुछ ब्राह्मण कहते है–

"कृपानाथ! आपको थोड़े में संतोष है सो ठीक, फिर भी आपका तो यह कर्त्तव्य था कि आप बहुत कुछ मांगकर अपने जातीय भाइयों का उपकार कर देते? भला उसमें आपका क्या बिगड़ जाता?"

बलि महाराज भी उन्हें खूब समझाते हैं और पुनः-पुनः कहते हैं–

"हे वामनावतार! हे भूदेव! आप और अधिक माँगिये। अहो! मेरे कोश में इस समय अतुल धनराशि भरी हुई है। कम से कम हमारे वैभव के अनुरूप तो आपको माँगना ही चाहिये।" किन्तु वामन महाराज पूर्णरूप से अन्य कुछ माँगने की अपनी अनिच्छा ही रखते हैं और कहते हैं–

"राजन्! यदि देना है तो दे दो अन्यथा मैं अन्यत्र चला जाऊँगा, क्योंकि मुझे तो मात्र तीन पैर धरती ही चाहिये।"

तब बलि कहता है–

'हे पूज्य! आप मुझे बहुत शर्मिन्दा कर रहे हैं। आपकी इस तुच्छ याचना से मुझे बहुत ही असंतोष है, फिर भी यदि आप आगे कुछ नहीं माँगना चाहते हैं तो ठीक, जैसी आपकी इच्छा। अच्छा! तो आप स्वयं अपने ही पैरों से पृथ्वी माप लीजिए।'

इतना कहकर बलि महाराज जल की भरी सुवर्ण झारी उठा कर दान का संकल्प करते हुए वामन विष्णुकुमार के हाथ पर जलधारा डाल देते हैं। और संकल्प होते ही वामन वेषधारी

विष्णुकुमार पृथ्वी को मापने के लिए अपना पहला पाँव उठाकर सुमेरु पर्वत पर रखते हैं, दूसरा पैर उठाकर मानुषोत्तर पर्वत पर रखते हैं पुनः तीसरा पैर उठाते हैं और उन्हें आगे बढ़ने की कहीं जगह ही नहीं दिखती है, उसे वे कहाँ रक्खे? .....तब वह तीसरा पाँव आकाश में ही उठा रह जाता है।

उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठती है, सभी पर्वत चलायमान हो जाते हैं, सभी समुद्र मर्यादा तोड़ देते हैं और उनका जल बाहर उद्वेलित होकर बहने लगता है। देवों के विमान एक से एक टकराने लगते हैं और देवगण सहसा आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। पुनः तत्क्षण ही देवगण अपने अवधिज्ञान से सारा समाचार ज्ञातकर वहाँ आकर दैत्यकर्मा बलि को बाँधकर मुनि विष्णुकुमार से कहते हैं–

'प्रभो! क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए!!.....

इस प्रकार चारों तरफ से आकाश में उपस्थित देवगण एक साथ शब्दों का उच्चारण करते हुए आकाश को मुखरित कर रहे हैं–

'जय हो, जय हो, जय हो!! महामुनि अकंपनाचार्य की जय हो, सर्व दिगम्बर मुनियों की जय हो, जैनधर्म की जय हो। महासाधु विष्णुकुमार की जय हो, जय हो, जय हो!! ..... हे धर्मवत्सल! हे दया सिन्धो, हे धर्म के अवतार! क्षमा करो, क्षमा करो, क्षमा करो!! दया करो, दया करो, दया करो!! हे नाथ! हम सभी की रक्षा करो, अब आप अपनी विक्रिया समेटो, हे देव! अब आप अपना पैर संकुचित करो।

यह सब दृश्य देखकर अतीव भयभीत हुआ और काँपता

हुआ बलि महाराज के चरणों में गिर पड़ता है और गिड़गिड़ता हुआ कहता है–

हे कृपानाथ! मुझे क्षमा कर दीजिए, मैं महापापी हूँ फिर भी अब आपकी शरणागत हूँ अब आप मेरी रक्षा कीजिए, मेरे ऊपर दया कीजिए, क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए।'

इसी मध्य बलि के साथी बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये तीनों मंत्री भी आकर मुनि के चरणों में साष्टांग पड़कर क्षमा याचना करते हैं, और पश्चात्ताप करते हुए अश्रु गिराने लगते हैं।

वामन वेषधारी विष्णुकुमार तत्क्षण ही अपनी विक्रिया समेट लेते हैं और मुनि अवस्था में वहाँ खड़े हो जाते हैं। उसी समय देवगण आकर सभी मुनियों पर हो रहे सारे उपसर्ग को दूर कर देते हैं। यज्ञ मंडप और अग्नि को हटा देते हैं। जो बेचारे निरपराध पशु हवन की आहुति के लिए वहाँ बाँधे गये थे उन्हें छोड़ देते हैं और सभी को अभयदान की घोषणा कर देते हैं।

उसी क्षण राजा पद्म अपने महल से निकलकर वहाँ आ जाते हैं और विष्णुकुमार मुनि के चरणों से लिपट जाते हैं। सात सौ मुनियों के ऊपर हो रहे इस भंयकर अग्निकाण्ड उपद्रव को दूर हुआ देख हर्षाश्रु से मुनि विष्णुकुमार के चरणों का मानों प्रक्षालन ही कर रहे हों। सर्वत्र प्रजा में शांति की लहर दौड़ जाती है। एक साथ सारी प्रजा वहाँ दौड़ आती है और गुरुओं की वंदना एवं वैयावृत्ति में लग जाती है।

उसी क्षण राजा और चारों मंत्री बड़ी भक्ति से संघ के नायक

अकंपनाचार्य की वंदना करने को वहाँ पहुँच जाते हैं। और उनके चरणों में साष्टांग पड़कर नमस्कार करते हुए कहते हैं–

'हे भगवन्! हे कृपासिंधो! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु।' पुनः बलि आदि मंत्री नेत्रों से अश्रु झराते हुए लड़खड़ती वाणी में कहते हैं–

'हे भक्त जनवत्सल! हे करूणा के सागर! हे परम क्षमा शील! गुरुदेव! हम पापियों के इस महान् अपराध को क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए।'

पुनः वे चारों मंत्री गुरुदेव से निवेदन करते हैं–

'हे नाथ! अब हमें आप विश्व हितकारी, परमोपकारी, अहिंसामयी इस जैनधर्म को ग्रहण कराइए।'

इतनी प्रार्थना को सुनकर करुणासागर श्री अकंपनाचार्य गुरुवर्य उन पर दया करके उन्हें सान्त्वना देते हैं पुनः मिथ्यात्व का त्याग कराकर उन चारों को सम्यक्त्व तथा अणुव्रत देकर उन्हें दुर्जन से सज्जन बना देते हैं।

सभी देवगण प्रसन्न होकर बहुत ही भक्ति भाव से अष्ट द्रव्य आदि उत्तम-उत्तम सामग्री लेकर श्री विष्णुकुमार मुनि के चरणों की पूजा करते हैं, पुनः अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की पूजा करते हैं। वे देवगण देवमयी तीन वीणाएँ लाकर उन्हें बजा-बजा कर खूब भक्ति-पूजा करते हैं। पुनः उन तीनों वीणाओं को यहीं मध्यलोक में दे जाते हैं जिनके द्वारा भक्त लोग सदा ही उन गुरुओं का गुणानुवाद गा-गाकर पुण्य संपादन करते रहे।

देवों के द्वारा पूजा-विधि संपन्न हो जाने के बाद राजा पद्म और हस्तिनापुर शहर के समस्त भक्तगण भक्ति में विभोर हो नाना प्रकार से मुनि श्री विष्णुकुमार के चरणों की, आचार्य अकंपन गुरु और सात सौ मुनियों की पूजा भक्ति करके जय-जयकार के नारों से आकाश को गुंजायमान कर देते हैं। पुनः सभी श्रावक-श्राविकाएँ विचार करते हैं–

"अहो! इन उपसर्ग विजयी महामुनियों की अग्नि की आँच और धुएं से बहुत क्लेश हुआ है। इनके कंठ रूँध गए हैं और शरीर में भी वेदना हो रही है। अब इन्हें ऐसा आहार देना चाहिए कि जिससे ये जले हुए, पीड़ा युक्त कंठ से सहज में ग्रहण कर सकें।"

तभी सब श्रावक सेमई की खीर की उपयुक्त आहार समझकर घर-घर में वैसा मृदु आहार तैयार करके आहार की बेला में अपने-अपने घर के दरवाजे पर मुनियों के पड़गाहन की प्रतीक्षा में खड़े हो जाते हैं। सभी मुनि अपनी-अपनी नियम सल्लेखना को विसर्जित कर आचार्यश्री की आज्ञा से आचार्यश्री के साथ शरीर को संयम का साधन मानकर उनकी रक्षा हेतु चर्या के लिए निकलते हैं। श्रावक आनंदविभोर हो पड़गाहन करना शुरू कर देते हैं–

"हे भगवन्! नमोऽस्तु नमोऽस्तु, अत्र तिष्ठ तिष्ठ, हे गुरुदेव! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो, यहाँ ठहरो, ठहरो, अन्न जल शुद्ध है।"

जिन-जिन श्रावकों को एक-दो आदि मुनियों की लाभ मिल जाता है वे अपने जीवन को धन्य मान लेते हैं और

विधिवत् नवधा भक्ति करके उन्हें मुदु और सरस सेमई की खीर का आहार देकर अतिशय पुण्य संपादन कर लेते हैं। जिन श्रावकों को कोई उत्तम मुनि-पात्र नहीं मिल पाता है वे भी उस दिन पात्रदान की उत्कट भावना से अन्य व्रती श्रावकों को भोजन कराकर आहार दान की भावना भाते हुए अपने जीवन को सफल करते हैं।

जिस दिन इन सात सौ मुनियों की रक्षा हुई थी वह दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का था। तभी से आज सभी श्रावकगण इस दिन को रक्षाबंधन पर्व के नाम से मनाते चले आ रहे हैं। इतना ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में सभी सम्प्रदाय के जैनेतर लोग भी किसी न किसी रूप में इस पर्व को मनाते हैं। यह पर्व सामाजिक पर्व के रूप में मनाया जाता है। आज के दिन सर्वत्र श्रावकगण तो मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के चरण सानिध्य में पहुँच कर उनके श्रीमुख से मुनि विष्णुकुमार की कथा सुनकर पुनः मुनि आदि पात्रों को खीर का आहारदान देते हैं। जहाँ कहीं मुनि आर्यिका आदि के चातुर्मास नहीं हैं। वहाँ के श्रावक अन्यत्र कहीं गुरुओं के निकट पहुँच कर आहारदान का लाभ लेते हैं, और मुनियों को आहार देते समय पूर्व मुनियों की स्मृति कर वर्तमान मुनियों में उनका स्थापना निक्षेप कर आहार देकर अपने को पुण्यशाली समझ लेते हैं, तथा तदनुरूप विशेष पुण्य का भी संचय कर लेते हैं।

यह पर्व वात्सल्य की पवित्रता का द्योतक होने से प्रायः सर्वत्र समाज के बहन-भाई में पवित्र स्नेह के रूप में भी मनाया

जाता है। बहन भाई को मिष्ठान्न आदि का भोजन कराकर उनके हाथ में रक्षाबंधन का सूत्र बाँधती हैं। उस रक्षासूत्र को 'राखी' भी कहते हैं। इस प्रकार धर्मात्माओं के प्रति परम धर्म के अवतार मुनि श्री विष्णुकुमार ने वात्सल्य भाव को करके जो धर्मात्माओं की रक्षा की है। उसी की स्मृति में इस पर्व का मनाते हुए धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा का नियम लेना चाहिए। तभी इस पर्व को मनाने की पूर्ण सार्थकता है क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना" धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

अनंतर विष्णुकुमार मुनि अपने गुरु के पास जाकर विक्रिया से जो वामनवेष बनाया था उसका प्रायश्चित ग्रहण कर घोरा-घोर तपश्चरण कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। वे महामुनि विष्णुकुमार तथा अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनि हम सब की रक्षा करें।

विशेष–सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में है। मानुषोत्तर पर्वत पुष्करद्वीप के मध्य में है, यह चूड़ी के आकार वाला है। इस मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्य लोक की सीमा है। इसके आगे चारणऋद्धिधारी या विक्रियाधारी मुनि या विद्याधर मनुष्य नहीं जा सकते हैं। इसीलिए श्री विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया से दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर सारा मनुष्य लोक माप लिया था।

अञ्जन से निरञ्जन

(1)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखंड में काश्मीर नाम का प्रसिद्ध देश है। किसी समय इसमें विजयपुर नाम का एक नगर था। वहाँ पर जिनमंदिरों पर ध्वजाएँ फहराती हुई मानों भव्य जीवों को धर्माराधना हेतु अपनी ओर बुला ही करती थीं। इस नगर के राजा का नाम अरिमत था जो कि इंद्र के समान वैभवशाली सुंदर, पराक्रमी, परोपकारी, जिनधर्म भक्त और प्रजावत्सल आदि गुणों से अलंकृत था। उसकी पट्टारानी का नाम सुंदरी था जो कि पतिव्रत्य आदि गुणों की खान थी और धर्मपरायणा थी। किसी समय रानी के पुत्ररत्न की उत्पत्ति हुई, राज्य में महामहोत्सव के साथ राजा ने पुत्र का नाम ललितांग रखा चूँकि वह सर्वांग सुंदर था।

सुंदर शिशु को पाकर माता-पिता फूले नहीं समाते थे, उनका राग-भाव पुत्र के लाड़प्यार में अत्याधिक बढ़ गया था। उसकी बाल क्रीड़ायें राजा को बहुत ही प्रिय लगती थीं। इस पुत्र प्रेम के कारण राजा का राजदरबार में बहुत कम जाना होता था। ललितांग बालक भी माता-पिता के असीम स्नेह को प्राप्त करता हुआ द्वितीया के चंद्रमा के समान वृद्धिंगत हो रहा था। धीरे-धीरे बालक ने पृथ्वी पर बैठना, रेंगना, सरकना तथा चलना शुरू कर दिया। वाणी से तोतली भाषा बोलते-बोलते कुछ दिन बाद स्पष्ट अक्षरों का उच्चारण करने

लगा, तथा कुछ दिनों में ही किशोर अवस्था में आ गया।

अत्याधिक लाड़-प्यार के कारण माता-पिता ने उस बालक को विद्या अभ्यास में नहीं लगाया। कुछ अक्षर ज्ञान सीखकर ही वह बालक विद्यागुरु के पास नहीं जाता था और माता-पिता भी अत्याधिक प्रेम होने से उसे अपने से अलग नहीं कर पाते थे। यह ललितांग बालक अपने वयस्क मित्रों के साथ शहर बगीचों, सरोवरों और शहर के बाहर खुले स्थानों में क्रीड़ा के लिए निकल जाता था।

धीरे-धीरे उम्र से साथ यह कुमार युवा हो गया किन्तु बहुत ही दुर्व्यसनी युवकों की संगति में रहने लगा। बाल्यकाल में विद्या अध्ययन न करने से तथा विनय आदि गुणों का अभाव होने से यह राजकुमार शहर निवासियों के लिए एक सिर दर्द बन गया।

जैसे नीम के पत्तों के संसर्ग में पानी कडुवा हो जाता है, उसी प्रकार राजपुत्र ललितांग भी दुर्जनों की संगति से विवेकहीन बन गया। उसकी बढ़ती हुई चंचलता, धूर्तता, दुष्टता और अनीतिपूर्ण कार्यों को देख-सुनकर भी राजा-रानी उसका विरोध नहीं करते, प्रत्युत् हँसकर टाल देते और प्यार ही करते रहते। फलस्वरूप वह प्रजा को नाना प्रकार के कष्ट देते हुए उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करने लगा।

'यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता,
सन्त्येकैकेऽप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।'

यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक, इन चारों में से एक-एक भी हों तो अनर्थ के लिए होते हैं और फिर यदि

चारों ही मिल जाये तो क्या कहना?

इस राजपुत्र में इन चारों का मिलना एक साथ हो जाने से तो अब कहना की क्या था? वह ललितांग अपने मित्रों के साथ खेलते हुए किसी को गाली देता, किसी से बाल पकड़कर खींचता, किसी के ऊपर थूक देता, किसी पानी भरने वाली का घड़ा-फोड़ देता, किसी को स्वयं रस्सी से बाँध कर कुँए में लटका देता। इत्यादि प्रकार से शहर में बड़े-बूढ़े पुरुषों को, स्त्रियों को, बालक और बालिकाओं को, सभी को तंग करता रहता था।

वह मूर्ख राजपुत्र कभी किसी एक मनुष्य के सिर को पकड़ कर रास्ते चलते किसी के सिर से टकराकर फोड़ देता और ताली बजाकर हँसने लगता, कभी अपने दुष्ट मित्रों के साथ मार्ग चलती किसी की भद्र महिला को घसीट लाता और उसकी इज्जत ले लेता। वह नगर की वेश्याओं को पकड़ कर बलपूर्वक देवी के मंदिर में लाकर नृत्य कराता और रात भर उनका नृत्य देखता रहता।

वह कभी भिक्षा के लिए घूमते हुए भिक्षुओं के पात्र कमंडलु छीन लेता और उन्हें क्रूरतापूर्वक यातनायें देता, उसके इन उपद्रवों से सभी वर्ग के लोग परेशान थे परन्तु किसी में भी इतना साहस नहीं था कि उसकी शिकायत राजा तक पहुँचा सके।

एक बार यह तेलियों के मुहल्लें में घुस गया तो बेचारे सभी तेली सब काम छोड़कर भागने लगे, उनमें से जो भी हाथ लगे उन्हें खूब पीटा और पुनः मनों तेल ले जाकर शहर

के बाहर यक्षिणी देवी के मंदिर में मशाल जलाने लगा, लोग यह दृश्य देखकर घबराने लगे। कभी बाजार में चला गया तो खूब लूटमार करवाई और दुकानदारों, सर्राफों, जौहरियों को तंग कर दिया, कभी बगीचों में क्रीड़ा करने गई हुई शीलवती महिलाओं को पकड़कर लतागृहों में ले जाकर उनका शील भंग करने लगा। उस समय शहर में ललितांग राजकुमार का भय इतना व्याप्त हो गया कि कुलीन घरानों की स्त्रियों ने बाहर निकलना बंद कर दिया।

ऐसी दुर्दशा को देखकर शहर के प्रमुख लोगों ने मिलकर मंत्रणा की और एक साथ राजदरबार में आये और राजा का अभिवादन कर हाथ जोड़कर कहने लगे–

"हे राजन्! हम लोग कुछ समस्या लेकर आये हुए हैं सो हमें अभय दिया जाए और हमारी प्रार्थना सुनी जाए।"

राजा ने कहा–

"ठीक है, आप लोग निर्भय होकर अपनी बात कहिये, क्योंकि राजा वही श्रेष्ठ होता है जो प्रजा के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है।"

राजा से आश्वासन प्राप्त कर उन लोगों में से एक महानुभाव आगे होकर बोले–

"हे महाराज! आपका पुत्र ललितांग निरंकुश हाथी की तरह हम नगरवासियों को कुचल रहा है, शहर के छोटे-बड़े मनुष्यों का जीवन कीड़े-मकोड़े के समान बना रखा है, बहू-बेटियों के शील का अपहरण दिन-दहाड़े हो रहा है। हे धर्मावतार! राजपुत्र के दुष्कृत्यों का वर्णन करना हम लोगों

की शक्ति से परे हो गया है। हर दिन देखो, कहीं लूटमार, कहीं अग्निकांड, कहीं तोड़फोड़ तो कहीं हाहाकार मच रहा है। हे नरनाथ! आप स्वामी हैं अतः हम लोग अब आपकी शरण में आये हैं सो आप कृपा कर राजपुत्र पर अनुशासन करिये, उसे दुष्टों की संगति से छुड़ाइये और हम लोगों की रक्षा कीजिए, साथ ही अपने उज्जवल यश को सुरक्षित रखते हुए आगे राजवंश को भी डूबने से बचाइये।"

प्रजा के इन वचनों को सुनकर राजा एकदम हतप्रभ हो गये और मस्तक पर हाथ रखकर सोचने लगे–

अहो! यह क्या हुआ? मेरा इकलौता बेटा, और फिर वह भावी राजा, इस विशाल राज्य की धुरा को वहन करने में कैसे समर्थ होगा।'

पुनः सोचते हैं–

'अरे! भविष्य की बात तो अभी जाने दीजिए, वर्तमान में इसे कैसे सुधारा जाय? और प्रजा को कैसे सुखी किया जाए?

एक क्षण सोचकर प्रजा को कहते हैं–

'हे प्रजाजनों! आप लोगों ने हमें सूचना देकर बहुत ही अच्छा किया है, अब आप निश्चिन्त होइये। इसका उपाय शीघ्र ही किया जावेगा।'

प्रजा हर्ष से पुलकित हो वापस अपने-अपने स्थान पर चली गई। इधर राजा अरिमत प्रधान अमात्य और महारानी के साथ मंत्रशाला में बैठकर विचार विमर्श करने लगे।

राजा ने पहले ललितांग की सारी शिकायतों का

स्पष्टीकरण किया, पुनः बोले–

'हे देवी! जिस प्रकार वर्षा का मीठा पानी समुद्र में पड़कर खारा हो जाता है उसी प्रकार यह अपना प्यारा पुत्र भी अधिक लाड़-प्यार में रहने से कुसंगति में पड़कर दुष्ट बन गया है। यदि हम लोग इसे विद्याध्ययन कराते तथा मुनियों के निकट ले जाते तो अवश्य ही यह उत्तम राजवंश की धुरा को धारण करने में समर्थ युवकरत्न बन गया होता। अस्तु! अब पछताने से क्या होगा? अब तो प्रजा के सुख के लिए इस कुमार को देश के बाहर निकाल देना ही हमारा कर्तव्य है।'

इत्यादि बातें सुनकर अमात्य ने कहा–

'हे नरनाथ! यद्यपि आपने सही निर्णय लिया है फिर भी मेरी प्रार्थना से एक बार आप स्वयं उसे उपदेश देकर देखिए, यदि कदाचित् वह मान लेता है तो आगे की परंपरा सुरक्षित रहती है।'

मंत्री के आग्रहपूर्ण वचनों से राजा ने कुमार को बुलवाया और उसे बड़े प्रेम से अपने पास बिठाकर उसके मस्तक पर प्यार से हाथ फेरते हुए बोले–

'प्रिय पुत्र! तुमने दुष्ट-जनों की संगति में अपनी प्रजा के साथ जो अनुचित व्यवहार किया है उसका हमें तथा हमारी प्रजा को आज बहुत ही दुःख हो रहा है। हे कुमार! भला तुम्हारे राज्य में क्या कमी है जो तुम दूसरों के घर, दुकान लूटते फिरते हो, देखो, किसी की बहू-बेटी को छेड़ने से उनके घर की इज्जत जाती है और तुम्हें लोग बदमाश समझते हैं। पुत्र! आगे चलकर इस सारी राज्य संपत्ति के तुम्हीं तो मालिक

हो। और साचो तो सही इस नगर की सारी प्रजा के तुम स्वामी हो अतः तुम स्वयं सोचो प्रजा को सताना चाहिए या उसकी रक्षा करनी चाहिए? इसलिए तुम अब अपनी दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ो और अच्छे योग्य बनो।

इत्यादि उपदेश सुनकर ललितांग ने अपनी गलती मंजूर की, पुनः ऐसा न करने का वचन दिया और माता-पिता को संतुष्ट कर दिया। पुनः दो-चार दिन बाद फिर वैसे का वैसा ही हो गया। ऐसा देखकर राजा अरिमत बहुत ही दुःखी हुए। अंत में पुत्र मोह छोड़कर राजनीति का पालन करते हुए प्रजा के सुख के लिए प्रिय पुत्र ललितांग को अपने देश से बाहर निकाल दिया।

(2)

राजपुत्र ललितांग पिता द्वारा देश निकाला दण्ड मिलने पर बहुत ही दुःख से आहत हो काश्मीर देश छोड़कर नेपाल देश में आ गया। 'समानशीलेषु व्यसनेषु मैत्री' इस सूक्ति के अनुसार वहाँ पर भी उसने अपने सामन उम्र, स्वभाव और दुर्व्यसन वाले मित्रों से मित्रता कर ली और धूर्तों का सरदार बन गया। व्यसनों में पारंगत यह ललितांग चोरी करने में अतीव निपुण हो गया। चौर्यकला में विशेष सफलता प्राप्त करने के लिए इसने एक 'अंजनवटी' नाम की विद्या को सिद्ध कर लिय। जिससे अदृश्य होकर मनमानी चोरी करने लगा। अर्थात् एक प्रकार की विद्या से सिद्ध हुआ अंजन आँख में लगा लेने से वह चोर किसी को भी नहीं दिखता था और वह

स्वयं सबको देखता रहता था। इस अंजनवटी विद्या के कारण यह सर्वसाधारण में अंजनचोर के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

अब यह देश-देशान्तरों में भ्रमण कर अपनी विद्या के बल से लाखों का माल चोरी में लाने लगा। चोरी में सिद्धहस्त यह कुमार 'जुआ खेलना, माँस खाना, मदिरा पीना, शिकार खेलना, वेश्यागमन करना और परस्त्री सेवन करना, इन सातों व्यसनों में प्रवृत्त हो गया। सदाचार को भूलकर निरंतर दुराचार के साथ रहकर मनमाना पाप करने लगा।

अहो! कुसंगति के प्रभाव को तो देखो, जो राजपुत्र राजघराने में इतने अधिक लाड़-प्यार से पाला गया था। सोचो, भला उसके यहाँ भोग सामग्रियों में किस चीज की कमी थी? युवावस्था में विवाह होने पर एक नहीं सैकड़ों राजपुत्रियों से विवाह कर सकता था, परंतु आश्चर्य है कि वह इन दुष्टों के साथ रात-दिन दुर्व्यसनों में ही फँसा रहता था। फिर भी देखो, उसे रंचमात्र भी शांति नहीं है। प्रतिक्षण आकुलता बनी रहती है कि "मुझे कोई चोरी करते, परस्त्री सेवन करते पकड़ न ले, मुझे राजा के द्वारा कहीं फाँसी की सजा का हुक्म न हो जावे।"

इस प्रकार प्रसिद्धि को प्राप्त होता हुआ वह अंजन चोर नाना देशों में भ्रमण करते-करते अपने साथियों के साथ राजगृह नगर की अप्रमित सौंदर्यशाली 'अनंगसुंदरी' नाम की वेश्या को देखकर मोहित हो गया और वहीं पर रहने लगा। वेश्या की इच्छा पूर्ति के लिए वह रातभर चोरी कर सामान लाता और दिन में वेश्या के घर में ही पड़ा रहता। उसके

द्वारा चोरी में लाए हुए सामान से थोड़े ही दिनों में वेश्या का घर भर गया। अनंगसुंदरी इतने सारे बहुमूल्य जेवरात आदि द्रव्यों को देखकर आश्चर्य में पड़ गई और सोचने लगी–

"अहो! इतना वैभव इंद्र के यहाँ भी नहीं होगा, किसी राजा, महाराजा, चक्रवर्ती के यहाँ भी इतनी विपुल संपत्ति नहीं हो सकती है। मेरा यह पति महान है, तीन लोक में भी ऐसा पुरुष नहीं मिलेगा। मेरे घर में देश-विदेश की सारी विभूतियाँ मौजूद हैं। मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। मैं चाहूँ तो इतने सारे वैभव से राज्य खरीद लूँ।"

ऐसा सोचते हुए उस वेश्या ने ललितांग कुमार की खूब प्रशंसा की, पुनः उस पर अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित करते हुए उसने उस अंजन चोर को इतना वश में कर लिया कि धीरे-धीरे उसने भी वेश्या को अपनी सब कुछ समझ कर उसे अपना सारा रहस्य बता दिया।

"मुझे चौर्य कला में कैसे सफलता मिलती है? मुझे अंजनवटी विद्या सिद्ध है।" इत्यादि सर्व बातें बता दीं।

अंजन चोर की इतनी विशेषता देखकर वह अनंगसुंदरी फूली नहीं समाई और नाना प्रकार की कल्पनाओं को मन में संजोते हुए सुख से रहने लगी।

एक दिन राजगृह का राजा अपने अंतःपुर और परिवार सहित जलक्रीड़ा के लिए जा रहा था। रानी भी राजा के साथ हाथी पर बैठी हुई अपनी नगर की शोभा को देख रही थी। उसके गले में 'ज्योतिः प्रभा' नामक नील मणियों का हार चमक रहा था। इधर वेश्या भी अपनी छत पर खड़ी होकर राजा के

प्रस्थान को देख रही थी। अकस्मात् उसकी दृष्टि रानी के गले पर पड़े हार पर पड़ी वह देखते ही सोचने लगी–

"अरे! मेरे घर में सब कुछ होते हुए यदि हार नहीं है तो क्या है? कुछ नहीं।"

इसके बाद वह अंजनचोर की प्रतीक्षा में बैठ गई। उसके आते ही उसने कहा–

"यदि आपका मुझ पर सच्चा प्रेम है तो यहाँ की रानी के गले का हार लाकर मुझे दीजिए। अन्यथा आज से आपका और हमारा कोई संबंध नहीं हैं।"

इतना सुनते ही अंजन चोर बोला–

"प्रिये! तुझे क्या मेरे प्राणों से मोह नहीं है? अरे राजा के यहाँ इतना बड़ा पहरा रहता और फिर राजा के पास में सोती हुई रानी के गले का हार भला मैं कैसे ला सकता हूँ? हाँ, भंडार में रखी हुई वस्तु लाना तो सहज है, सेंध लगा कर सब कुछ ले आता हूँ किन्तु रानी के गले में पड़ा हुआ हार तो लाना असंभव है।"

अजंन चोर का उत्तर सुनते ही उसने स्वांग शुरू किया। वह जाकर एक तरफ लेट गई। जब वह चोर मनाने पहुँचा और उसकी अनुनय विनय करने लगा तब वह बोली–

"ओह! अब मेरे जीवन की आशा नहीं है, मैं उस हार को पहने बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती। मुझे तो आपके विद्या बल पर बहुत ही विश्वास था और यह क्या हुआ? हाय, मैंने अपनी माँ की बात न मानी और तेरे जैसे अकर्मण्य

को अपना सर्वस्व मान लिया। आज तक मैं तेरे मोह में अपने को रानी से भी बढ़कर गिन रही थी और जब उसके गले का हार ही मुझे नहीं मिल सकता तब मैं जीवित रहकर क्या करूँगी?"

वेश्या की इन बातों को सुनकर अंजन चोर बहुत ही दुःखी हुआ और पुनः उसे सान्त्वना देते हुए बोला–

"प्रिये! तुम उठो, स्नान करो, भोजन करो और प्रसन्न होओ। मैं तुम्हें यह हार अवश्य ही लाकर दूँगा। थोड़े दिन धैर्य धरो। मेरी यह अंजन गुटिका विद्या शुक्ल पक्ष में काम नहीं देती है। कृष्णपक्ष की अष्टमी को आने दो। मैं तुम्हें निश्यित ही रानी के गले का हार लाकर पहनाऊँगा।"

इतना कहने पर भी जब वेश्या प्रसन्न नहीं हुई तब उसने कहा–

"प्रिये! उठो, मैं आज ही रात्रि में तुम्हें हार लाकर पहनाऊँगा।" इतना कहने पर वेश्या ने प्रसन्नता जाहिर की। अपने वायदे के अनुसार वह ललितांग उसी दिन रात्रि में अंजनवटी विद्या के बल से छिपकर राजमहल में घुसकर रानी के गले से हार लेकर भागा। उस ज्योतिःप्रभा हार के प्रकाश की चकाचौंध देखकर कोतवाल ने हल्ला मचा दिया तथा उस भागते हुए प्रकाश की दिशा की ओर ही चोर को पकड़ने के लिए प्रकाश का पीछा कर दिया। चाँदनी रात के कारण अंजन गुटिका भी अपना पूरा प्रभाव नहीं कर पाती थी। अतः कोतवाल को पीछे आते देख अंजन चोर घबरा कर

हार वहीं फेंक कर जी-तोड़कर भागने लगा। कोतवाल ने हार को दूसरे को संभलाया और आप स्वयं उस चोर को पकड़ने के लिए उसके पैर के चाप के सहारे उसका पीछा नहीं छोड़ा। चोर शहर की चार दीवारी को लांघकर श्मशान भूमि की ओर बढ़ गया।

वहाँ एक वृक्ष के नीचे दीपक जलते हुए देखकर वह उस पेड़ के नीचे पहुँचा और ऊपर की ओर देखने लगा। वहाँ पर 108 रस्सियों का एक सींका लटक रहा था, उसके नीचे भाला, बर्छी, तलवार, फर्सा, शूल, चक्र आदि नुकीले-नुकीले अनेक प्रकार के शस्त्र गाड़े हुए थे। एक व्यक्ति वहाँ पूजा कर णमोकार मंत्र पढ़ता हुआ रस्सी काटने का पुरुषार्थ कर रहा था किन्तु पुनः-पुनः नीचे देखकर घबराता था कि–

'यदि मुझे विद्या नहीं सिद्ध हुई और मैं नीचे गिर पड़ा तो निश्चित ही इन शास्त्रों से कटकर मर जाऊँगा।'

सो वह बेचारा बार-बार नीचे आ जाता पुनः विद्या सिद्ध करने के लोभ से ऊपर चढ़ता। ऐसे ही चढ़ उतर कर रहा था। तभी इस चोर ने पूछा–

'अरे भाई! तुम कौन हो? और यह क्या कर रहे हो?'

उसने कहा–

'मेरा नाम वारिषेण है। मैं आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहा हूँ। मुझे यह मंत्र जिनदत्त सेठ ने दिया है। किन्तु नीचे के शस्त्रों को देखकर मेरे मन में संशय हो रहा है.....।'

उसकी बात पूरी भी नहीं हो पाई कि इस अंजन चोर ने

सारी स्थिति समझ ली। उसने उसी क्षण मन में सोचा–

'जिनदत्त सेठ परम धर्मात्मा, जैनधर्मी है, सम्यग्दृष्टि है। उसका दिया हुआ मंत्र गलत नहीं हो सकता है। अस्तु! जो भी हो मेरे पीछे कोतवाल लगे हैं। वे पकड़ कर मृत्यु दण्ड ही देंगे। यदि कदाचित् विद्या सिद्ध हो गई तो मरने से तो बच ही जाऊँगा। और यदि नहीं सिद्ध हुई तो गिरकर मर जाऊँगा। फिर भी 'सेठ जिनदत्त का मंत्र सही ही होगा' उस पर शंका नहीं करना चाहिए।'

ऐसा सोचकर उसने कहा–

'भाई! यदि तुझे भय लगता है तो ला, यह मंत्र मुझे बता दे।'

वारिषेण ने तत्काल ही सेठ जिनदत्त द्वारा बताई गई विधि उसे बताकर मंत्र दे दिया। अंजन चोर ने जिनदत्त सेठ पर विश्वास रखकर मन में उसे प्रणाम किया, पुनः दृढ़ता से सींके में बैठकर मंत्र का उच्चारण किया और तलवार से रस्सियों काट डालीं। रस्सियों के कटने से वह नीचे गिरने वाला ही था कि बीच में ही विद्या देवता ने आकर उसको ऊपर उठा लिया और कहा क्या चाहिए अंजन चोर ने कहा-

"मैं जिनदत्त सेठ के दर्शन करना चाहता हूँ, मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।"

जिनदत्त सेठ उस समय सुमेरु पर्वत पर नंदन वन में जिनमंदिर में पूजा कर रहा था। विद्या देवता ने तत्क्षण ही उसे वहाँ पहुँचा दिया।

(3)

अंजनचोर सुमेरु पर्वत पर पहुँचकर नंदनवन के चैत्यालय में प्रविष्ट हुआ। तब सोचने लगा–

'अहो! जिनदत्त के मंत्र पर विश्वास करने से मुझे तत्क्षण ही आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई है और मैं उस विद्या के बल से इस महामहिम सुमेरु पर्वत के जिन मंदिर में आ गया हूँ। आज मेरा कितना बड़ा भाग्योदय हुआ है कि जो मैं ऐसे पवित्र स्थान पर आ गया हूँ। कहाँ तो मैं कोतवाल के हाथों मरने वाला था और कहाँ यह सुयोग मिल गया?'

इत्यादि सोचते हुए पुलकित मना उसने पूजा करते हुए जिनदत्त सेठ को नमस्कार किया। पुनः भक्ति-भाव से श्री जिनेन्द्र की प्रतिमाओं के दर्शन करता हुआ स्तुति करने लगा। वह ललितांग बार-बार उन अकृत्रिम जिनमंदिरों की शोभा निहार रहा था और तृप्त नहीं हो रहा था। वहाँ पर सर्वत्र इंद्रनील मणि, कर्केतन मणि, पद्मरागमणि, मरकत मणि आदि जड़ी हुई थीं। रत्नों की अतिशय सुंदर प्रतिमाओं का दर्शन करते हुए मानों उसे आज कोई अद्भुत निधि ही मिल गई हो। और है भी तो यह अद्भुत निधि का ही लाभ, जो कि महाचोर महापापी को अनायास ही सुमेरु पर्वत के जिनमंदिरों के दर्शन का मिल जाना, यह साधारण बात तो नहीं थी।

इतने में ही जिनदत्त सेठ पूजा पूर्णकर उसकी ओर देखकर सोचने लगा–

'अरे! यह अंजन चोर, पापी, दुरात्मा, इसे आकाशगामी विद्या कैसे सिद्ध हो गई?'

सेठ को अपनी ओर देखते हुए देखकर तत्काल ही वह चोर उनके चरणों में गिर पड़ा और बोला–

'हे महानुभाव! आपके प्रसाद से ही आज मुझे यह सौभाग्य मिला है।'

सेठ ने पूछा–

'सो कैसे?'

तत्काल ही अंजन चोर ने सारी घटना सुना दी। सुनकर सेठ ने कहा–

'भद्र! बहुत ही अच्छा हुआ, तुम्हारे प्राणों की रक्षा हो गई, अब तुम्हें समस्त पाप कर्मों का त्याग कर देना चाहिए।'

तभी अंजन चोर ने कहा–

'हे महानुभाव! आप जिनेन्द्रदेव के परम भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, अन्यथा नहीं बोलते हैं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा करके ही मैंने यह आकाशगामिनी विद्या पाई है और मृत्यु के मुख से बच गया हूँ। फिर भला अब मैं इस धर्म को कैसे छोड़ दूँगा? अहो! जिस धर्म ने आज मेरी रक्षा की है, अब मेरे लिए इस जन्म में वो ही एक शरण है। अब मुझे एक जिनधर्म के सिवाय और कुछ भी नहीं चाहिए। अब मैं श्री जिनेन्द्रदेव के मार्ग का ही अनुसरण करके इस संसार समुद्र को पार करूँगा।'

सेठ जिनदत्त अंजन चोर की दृढ़ता को देखकर मन में बहुत ही प्रसन्न हुआ और नाना प्रकार की धर्मकथाओं से उसे धर्म में और भी प्रोत्साहित करने लगा। सेठ के मुख से नाना

प्रकार की धर्म कथाओं को सुनकर अंजनचोर धर्म के रस से ओतप्रोत हो गया। और पुनः सुमेरु पर्वत के संपूर्ण जिनालयों की वंदना करके वहीं पर विराजमान देवर्षि नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि के पास गया, उन्हें साष्टांग नमस्कार कर उनके चरणों के निकट बैठ गया। विनयपूर्वक अपनी आत्मकथा निवेदन करके गुरु के पादमूल में आपने पापों की निंदा करने लगा और बोला–

'हे दयानिधे! अब आप मुझे इन समस्त पापों को नष्ट करने के लिए उत्तम उपाय बतलाइये कि जिससे मेरी आत्मा इस अथाह संसार समुद्र में न डूब जाए।'

मुनिराज ने उसे धर्म का उपदेश दिया और कहा–

'हे भव्य! संसार समुद्र से पार होने के लिए यह जैनेश्वरी दीक्षा ही जहाज है। इस पर बैठकर ही यह अगाध भववारिधि तैरा जा सकता है।'

अंजनचोर ने मन में विचार किया–

'यह प्राणी संसार के जितने दुःख भोगता है उसके आगे जैनेश्वरी दीक्षा में क्या कष्ट है? यदि धर्म भावना से शरीर से निर्मम होकर तपश्चरण किया जायेगा, गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास और उपसर्ग आदि के कष्ट झेले जोयेंगे तो पुनः संसार में न जन्म न लेना पड़ेगा और न मरना ही पड़ेगा।'

ऐसा सोचकर उनके कहा–

'हे भक्तजन वत्सल! अब आप मुझे कर्मों को मूल से नष्ट करने वाली ऐसी दिगम्बरी दीक्षा प्रदान कीजिए।'

मुनिराज ने भी उसे निःशंकित अंग का धारी, दृढ़

सम्यक्त्वी जानकर मुनि दीक्षा प्रदान कर दी। अब वह अंजनचोर महाव्रती बन गया। अतः अब चोर नहीं रहा प्रत्युत् महा साधु हो गया और इंद्रों के द्वारा भी वंद्य हो गया।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों को सर्वथा त्याग कर अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत इन पाँच महाव्रतों से सहित होने से महान् हो गया। इस प्रकार से मुनियों के 28 मूलगुणों का पालन करते हुए वह ललितांग राजकुमार सारे विश्व में पूज्यपने को प्राप्त हो रहा था। घोरातिघोर तपश्चरण करते हुए उन मुनिराज ने अपने कर्मों को सुखा डाला था। कुछ दिनों के उपरांत इन ललितांग मुनिराज को चारणऋद्धि प्राप्त हो गई। जिसके निमित्त से वो पुनः सुमेरु पर्वत आदि के अकृत्रिम जिनमंदिरों की वंदना करने जाने लगे।

किसी समय कैलाश पर्वत पर पहुँचकर शुक्लध्यान में आरूढ़ हो गये। तभी इनके घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट हो गया। तत्क्षण ही देवों ने आकर गंधकुटी की रचना करके महामुनि ललितांग के केवलज्ञान की पूजा की। अब ये ललितांग अर्हंत केवली हो गये और तमाम भव्यों को मोक्षमार्ग का दिव्य उपदेश दिया। अनंतर अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर निर्वाण धाम को प्राप्त कर लिया। सिद्ध, शुद्ध, निरंजन परमात्मा हो गये।

धर्म और धर्मात्मा के वचनों में शंका न करके निःशंकित अंग के प्रभाव से ये अंजन चोर संपूर्ण कर्म अंजन से रहित होकर निरंजन सिद्ध हो गये हैं। ऐसा समझकर जिनेन्द्रदेव के

वचनों में निःशंक होकर अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाना चाहिए।

जो व्यक्ति तमाम दिन सप्त व्यसनों के सेवन में लीन रहा, उसने भी जब धर्म की शरण ले ली तब संपूर्ण कर्मों को काटने में समर्थ हो गया और उसी भव से अपनी आत्मा को परमात्मा बना कर शाश्वत सुख का भोक्ता बन गया। इसीलिए तो धर्म को 'पतित पावन' कहा है।

प्रश्न–यदि बहुत दिनों तक पापाचरण करके भी अंत में धर्म ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तो फिर बचपन से ही धर्म ग्रहण की क्या जरूरत है? अजंन चोर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट ही है।

उत्तर–अंजन चोर के उदाहरण का ऐसा अर्थ कदापि नहीं करना चाहिए। क्योंकि दुर्व्यसनों में फँस कर व्यक्ति प्रायः उनसे अपने को छुड़ा नहीं पाते हैं और पुनः पापाचरण से मर कर नरक-निगोदों में चले जाते हैं। अंजन चोर को कोतवाल के डर से भागना और उसी क्षण आकाशगामिनी विद्या का मिल जाना, पुनः उसके प्रभाव से सुमेरु पर्वत के जिन मंदिर का दर्शन होना, वहाँ पर सेठ का और महामुनि का उपदेश मिलना, ये सब चीजें सबके लिए सुलभ नहीं हैं। आज देखा जाता है कि यदि कोई युवक शराब पीता है तो वह गुरु के पास दर्शन करने भी नहीं आता है। कदाचित् आ भी गया तो वह शराब छोड़ने को तैयार नहीं होता है और यदि त्याग भी कर दे तो पुनः पीने लगता है। जैसे कफ में फँस कर मक्खी का निकलना बहुत ही कठिन है वैसे ही

दुर्व्यसन में फँस कर व्यक्ति का निकलना बहुत ही कठिन है। अतः प्रारंभ से ही दुर्व्यसनों से दूर रहकर धर्म का सेवन करते हुए पुण्य और यश का संपादन करते रहना चाहिए। तथा पुण्य से प्राप्त अनेक सांसारिक सुखों का भी अनुभव कर धर्म के प्रसाद से स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त कर लेना चाहिए। मनुष्य जन्म पाने का यही सार है।

प्रश्न–पुनः यह अंजन चोर का उदाहरण किसलिए दिया जाता है?

उत्तर–इस अंजन चोर के उदाहरण से अनेक शिक्षायें मिलती हैं। तथा माता-पिता को अपने पुत्र के लाड़ प्यार में विद्या और सुशिक्षा भी देनी चाहिए। भले ही ताड़ित भी करना पड़े। अपनी संतान पर प्रारंभ से ही सुसंस्कार डालते रहना चाहिए और कुसंगति से रोकते रहना चाहिए।

2. जिन वचनों में कभी भी शंका नहीं करना चाहिए। अंजन चोर का उदाहरण तो निःशंकित अंग में श्री संमतभद्र स्वामी ने रखा है इसीलिए यह कथा अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है क्योंकि निःशंकित अंग के बिना सम्यक्त्व मोक्ष को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होता है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि कोई भी अच्छा काम करना हो उसमें आत्म विश्वास और दृढ़ता अवश्य होनी चाहिए तभी सफलता मिलती है।

3. यदि कोई व्यक्ति कुसंगति से दुर्व्यसनी हो भी गया है तो भी यदि वह गुरु के उपदेश से या किसी भी धर्मात्मा की प्रेरणा से धर्म ग्रहण कर लेता है तो वह अपना कल्याण कर लेता है और सुख तथा यश का भागी बन जाता है।

अतः दुर्व्यसनी लोगों को भी धर्म का उपदेश देते रहना चाहिए, पता नहीं कब उनका उद्धार हो जावे।

प्रश्न–पुनः आज साधुगण पापी, चांडाल, शूद्र आदि को मांसाहार आदि त्याग कराकर उन्हें जैन मानकर उनसे आहार क्यों नहीं लेते हैं।

उत्तर–उच्च गौत्री और नीच गौत्री को पापाचरण छोड़ देने के बाद कितना-कितना धर्म ग्रहण करने का अधिकार है? कौन आहार दे सकता है कौन नहीं? यह विषय सूक्ष्म है, इसको गुरुजनों से ही समझना चाहिए। हाँ, जैनधर्म में आत्म कल्याण करने का अधिकार तो सभी प्राणियों को प्राप्त है। किन्तु मुनियों को आहार दान देने का, जिनेन्द्रदेव की पूजन करने का और दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार उच्च गोत्री त्रैवर्णिक को ही है। यहाँ पर ललितांग क्षत्रिय पुत्र राजकुमार था। अतः उसने दीक्षा लेकर मोक्ष पद प्राप्त कर लिया। यह ध्यान रखना चाहिए।